संस्कृत साहित्य के प्रतीक नाटकों का समीक्षात्मक अध्ययन

(SANSKRIT SAHITYA KE PRATEK NATKON KA SAMEEKSHATMAK ADHYYANA)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की पीएच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
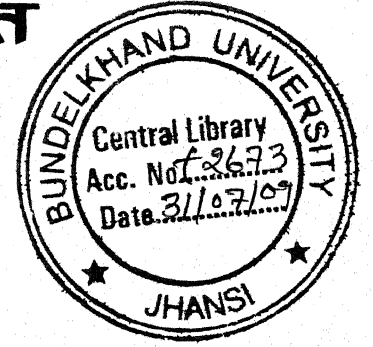
निर्देशक
प्रो0 राम किशोर शास्त्री
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

सहनिर्देशक
पं0 राजा राम दीक्षित
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज,
अतर्रा

अनुसन्धाता
ज्ञानेन्द्र कुमार त्रिपाठी
एम0 ए0 (संस्कृत)
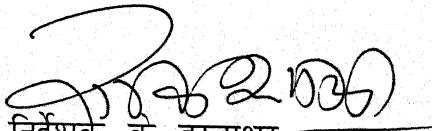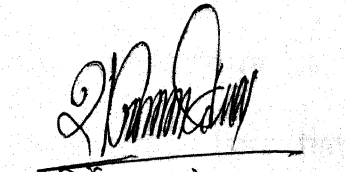
प्रमाणपत्र

प्रमाणित किया जाता है कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की शोधोपाधि के लिए ज्ञानेन्द्र कुमार त्रिपाठी द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'संस्कृत साहित्य के प्रतीक नाटकों का समीक्षात्मक अध्ययन' हमारे निर्देशन में किया गया मौलिक शोधकार्य है। शोधच्छात्र ने दो सौ से अधिक दिवसों तक हमारे सामुख्य में रहकर शोधकार्य पूर्ण किया है।

हम पूर्ण विश्वास एवं अधिकतम जानकारी के अनुसार इस शोध-प्रबन्ध के विषय में कह सकते हैं कि -

1. यह शोधच्छात्र का मौलिक कार्य है।
2. शोधकार्य नियत अवधि में पूर्ण किया गया है।
3. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की पीएच0डी0 उपाधि विषयक अर्हताओं को संपूरित करता है।
4. यह शोधकार्य विषयवस्तु एवं भाषिक स्तर की मानकता पर परीक्षक को संप्रस्तुतार्ह है।

निर्देशक के हस्ताक्षर

सहनिर्देशक के हस्ताक्षर

A. P. Srivastava

प्राचार्य द्वारा अग्रेषित एवं हस्ताक्षरित

Principal
Atarra Degree College
Atarra (Banda)

प्राक्कथन

ज्ञान की प्रत्येक शाखा का पर्यवसान दर्शन में होता है। दर्शन की जटिलता और गूढता किसी से छिपी नहीं है। जब दर्शन के जटिल सिद्धान्त प्रतीकों के माध्यम से साहित्य की किसी विधा के द्वारा सर्वजन को सुलभ होने लगे तो कर्ता या द्रष्टा को असीम आनन्दानुभूति होती है। दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रतीक का अवलम्बन देकर नाटक के रूप में सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत करने का महनीय प्रयास ग्यारहवीं शताब्दी में श्रीकृष्ण मिश्र ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक प्रतीक नाटक का प्रणयन करके किया। तत्पश्चात् प्रतीक नाटकों के प्रणयन की निर्बाध श्रृंखला प्रारम्भ हो गयी।

विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भ से ही दर्शनशास्त्र के प्रति मेरा रूझान था, फलतः मेरी अभिरूचि को दृष्टिगत रखते हुए मुझे मेरे गुरूवर्य दर्शन, व्याकरण एवं साहित्यशास्त्र के **प्रखर विद्वान् प्रो0 रामकिशोर शास्त्री, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद** ने अपने विद्वतापूर्ण पर्यवेक्षण में मुझे यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुज्ञा प्रदान की। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के शैशवकाल से ही आदरणीय गुरूवर्य पुत्रवत् स्नेह के साथ यथावसर उचित सलाह एवं निर्देश देते हुये मेरा उत्साहवर्द्धन करते रहे हैं। अतः उसके लिये किसी प्रकार का कृतज्ञता प्रकाशन निश्चय ही उस सहज स्नेह के गौरव का विघातक होगा।

मेरे शोधकार्य में सहनिर्देशन का महत्कार्य **पं0 राजा राम दीक्षित, आचार्य, अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा** ने किया जिनके सम्यक् मार्गदर्शन से ही मेरा यह शोधकार्य पूर्ण हो सका है।

मातृ-ऋण एवं पितृ-ऋण से कोई भी व्यक्ति अनृण नहीं हो सकता। जिस **ममतामयी माँ एवं वात्सल्य सागर पिता श्री बालाकान्त त्रिपाठी, प्रवक्ता अंग्रेजी, गोस्वामी इण्टर कालेज, छीबों, चित्रकूट** के लाड़-प्यार से जन्म से लेकर अद्यावधि पला-बढ़ा और जिन्होंने जीवन के अनेक झंझावातों को सहन करते हुए न केवल मेरी खुशी में अपने सुखों का अनुभव किया अपितु उच्च अध्ययन एवं सुचरित्र के लिये सदैव सत्प्रेरणा प्रदान किया, से तो जन्म-जन्मान्तर में भी ऋणमुक्त होना असंभव है।

नारायणतुल्य पितामह स्वामी रामतीर्थ जी महराज के आशीष, अनुज करूणेन्द्र के स्नेह, जीजा श्री अशोक मिश्र- प्राध्यापक, दिल्ली, भगिनी श्रीमती पुष्पा मिश्रा एवं भगिनीकल्प डा0 अम्बेश्वरी के आशीष ने शोधकार्य की पूर्णता में निरन्तर ऊर्जा का सञ्चार किया।

अग्रजतुल्य **श्री मनोज द्विवेदी**-उपजिलाधिकारी, **श्री निवास तिवारी**-म0प्र0 न्यायिक सेवा, मित्रों-**श्री विपुल मिश्र**-प्रवक्ता संस्कृत, **श्री शिवनारायण मौर्य**-प्राथमिक शिक्षक के स्नेह एवं अनुजतुल्य-**हरिओम** तथा **आलोक** की शुश्रूषा ने अनवरत मेरे उत्साह का संवर्द्धन किया है।

नलनी फोटो स्टेट कापियर्स के सञ्चालक श्री रवि सक्सेना को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी टीम के सदस्यों-**श्री राम अवतार**

भारद्वाज और लक्ष्मी नारायण रैकवार के तकनीकी ज्ञान का उपयोग करके प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टङ्कण को सफल बनाया है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञाताज्ञात जनों को यथोचित साधुवाद प्रदान करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से मेरा सहयोग किया है।

अन्ततः, गुरूकृपा से विषय को समझने और उसको यथावत् निबद्ध करने का प्रयास मैंने किया है। मेरा यह प्रयास कितना सफल है? यह तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु इसका नीर-क्षीर विवेक वही सुधीजन करेंगे जिनके समक्ष यह शोध-प्रबन्ध सादर प्रस्तुत है।

Gyanendra Kumar Tripathi

(ज्ञानेन्द्र कुमार त्रिपाठी)

कार्तिक पूर्णिमा
सं0 2064

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना

मानव जब इस पृथ्वी पर आया तो उसके साथ यह प्रकृति थी और प्रकृति से जुड़े कई अनसुलझे प्रश्न थे। आँधी, तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि और दावाग्नि लोगों को आतङ्कित कर देती थी। मनुष्य की बौद्धिकता का विकास नहीं हो पाया था। तर्क-बुद्धि की जगह विश्वास और प्रेम ही प्रभावी था। इसलिए लोग अपने बचाव के लिए प्रकृति की विकरालता से अपनी सुरक्षा का आश्वासन पाने के लिए शब्दों के माध्यम से देवोपासना में प्रवृत्त हुए। यही शब्द जब उनकी भावनाओं को व्यक्त करने में कम पड़ने लगे तब उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक रूप में चित्रों को माध्यम बनाया क्योंकि लिपि का विकास तब तक नहीं हो पाया था। लिपि के अभाव में मानव सभ्यता के विकास में लेखन की शुरूआत अन्य कलाओं की अपेक्षा देर से हुई। जब मानव के पास लिपि नहीं थी तो चित्रों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करना अधिक सरल था जिसका उदाहरण अजन्ता एवं एलोरा की गुफाओं तथा सिन्धुघाटी सभ्यता की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों में मिलता है।

मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं का जितना सूक्ष्म चित्रण इन प्रतिमाओं में देखने को मिलता है उसे कई कविताओं के माध्यम से भी अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

कालान्तर में जब लिपि का विकास हुआ तो लोगों ने अपने मनोभावों को भाषाबद्ध करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भिक अवस्था में कला मनुष्य के मनोजगत् का स्थूल उद्घाटन ही करती थी। मूर्त और अमूर्त का स्वरूप भी प्रारम्भ में स्थूलत्व लिए हुए ही रहा। अर्थात् सामान्य मनुष्य के रूप में वह

कुछ स्थूल वस्तुओं को प्रतीकीकरण के माध्यम से प्रकट कर अपने चिंतन को प्रत्यक्ष जगत् तक ही विकसित कर सका लेकिन अनवरत चिंतनशील मनुष्य को जब अपने आन्तरिक जगत् का ज्ञान हुआ तब 'अमूर्त' चिंतनयुक्त वह व्यक्ति 'विशेष व्यक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित होकर, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, मूर्त और अमूर्त सभी पहलुओं पर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगा। इसीलिए विशेष व्यक्ति का यह अमूर्त चिंतन 'शास्त्र विद्या' के रूप में परिणत हुआ। मनुष्य की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना और उसका कला-ज्ञान इसी अमूर्त चिंतन का परिणाम है।

उपर्युक्त शास्त्रविद्या में 'दर्शनशास्त्र' वह निष्काम बौद्धिक जिज्ञासा है जो ज्ञान, सत् और नीति के मूलभूत प्रश्नों के उत्तरों की खोज करती है। इसमें मनुष्य स्वयं का ही अध्ययन करता है। अपनी उत्पत्ति से सम्बन्धित जिज्ञासा तथा जिस जगत् में वह रह रहा है, इसके नियंता आदि से सम्बन्धित कई प्रश्न उसको मथित करते रहे हैं जिनके उत्तर ढूढ़ने का प्रयास प्राचीन ऋषियों से लेकर आज तक के दार्शनिक कर रहे हैं। वैदिक संहिता, आस्तिक दर्शनों तथा नास्तिक दर्शनों में उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास भी ऋषियों व दार्शनिकों ने किया ही है किन्तु सामान्य मनुष्य के लिए ये सारे शास्त्र बहुत साध्य नहीं हो सकते। अतः जब कोई शास्त्र-विद्या का रसास्वादन सामान्यजनों को भी कराना चाहे तो उससे श्रेष्ठतर अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

अतः सामान्यजनों को भी शास्त्र विद्या का रसास्वादन कराने हेतु संस्कृत साहित्य मे लोकप्रियता की दृष्टि से नाटक शीर्ष स्थान पर हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि आदिकाल से भारतीय जन जीवन के मनोरञ्जन हेतु नाटकों को श्रेष्ठ माध्यम के रूप में अपनाया जाता रहा है। भारतीय नाट्यशास्त्र के आदि

निर्माता आचार्य भरत के अनुसार सभी प्रकार के मनुष्यों का अनुकरण होने के कारण नाटक में सभी प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्यायें, कलायें और शास्त्र समन्वित रहते हैं। वह वेद विद्या है, इतिहास है और उसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा सबको विनोद प्रदान करने के साधन भी विद्यमान रहते हैं। उन्हीं के शब्दों में-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

नाट्यशास्त्र 1/117

जब दर्शन के जटिल सिद्धान्त प्रतीकों के माध्यम से साहित्य की किसी विधा के रूप में सर्वजन को सुलभ होने लगे तो कर्ता या द्रष्टा को निस्सीम आनन्दानुभूति होती है। प्रतीक नाटकों की शैली की प्रथम विशेषता मानव मन के सूक्ष्म तत्वों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित करके अध्यात्म के दुर्ज्ञेय रहस्यों को बोधगम्य बनाने के प्रयास में झलकती है। प्रतीक नाटकों में अमूर्त भावों को मूर्तरूप देकर निहित है कि जिस प्रकार बाह्य-जगत् में युद्धाद्वि हुआ करते हैं उसी प्रकार हमारे अन्तर्जगत् में भी युद्ध हुआ करते हैं। इन प्रतीक नाटकों में सात्विक भावों को एक पक्ष में तथा तामसिक भावों को दूसरे पक्ष में रखा जाता है। जागतिक रूप से उन भावों के परस्पर सम्बन्ध की भी कल्पना कर ली जाती है। सत् की असत् पर, धर्म की अधर्म पर, न्याय की अन्याय पर विजय आदि भारतीय मान्यताओं के आधार पर ही इसकी रचना की गयी है।

प्रतीकात्मक (Allegorical Play) या भावात्मक नाटकों की अनेक श्रेणियों में तीन श्रेणियाँ प्रमुख हैं: पहली श्रेणी के वे नाटक हैं जिनके कथानक में

रसात्मकता के साथ-साथ आदि से अन्त तक चमत्कृति होती है। दूसरी श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनके प्रस्तुत अर्थ की अपेक्षा अप्रस्तुत अर्थ में चमत्कृति होती है और तीसरी श्रेणी के नाटक वे हैं जिनमें कुछ पात्र तो मानवीय होते हैं और कुछ मानवीकरण के रूप में प्रतीत होते हैं।

संस्कृत साहित्य में प्रतीकात्मक शैली के नाटकों की आधारभूमि कालिदासोत्तर कवियों की रचनाओं में मिलती है, विशेषतया अश्वघोषकृत 'शारिपुत्रप्रकरण' में, फिर भी उसका पूर्ण विकास हमें कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' में दिखाई देता है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध प्रथम प्रतीक नाटक है, जिसकी रचना ग्यारहवीं सदी के मध्य में हुई थी। संस्कृत में इन प्रतीकात्मक शैली के नाटकों की छिट-पुट परम्परा लगभग 17वीं शताब्दी तक बना रही। इस शैली के नाटकों में चालुक्यराज कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के दरबारी कवि यशपाल के 'मोहराजपराजय' (13वीं शताब्दी) की गणना की जाती है। कला एवं शिल्प की दृष्टि से 'प्रबोधचन्द्रोदय' की अपेक्षा यह न्यून है। इसी शैली के दाक्षिणात्य नाटकों में वेंङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक द्वारा विरचित 'सङ्कल्पसूर्योदय' भी महत्वपूर्ण है। यह नाटक 13वीं सदी में लिखा गया था। इसके अतिरिक्त वरदाचार्य का 'यतिराजविजय' भी प्रतीकात्मक शैली के दाक्षिणात्य नाटकों में अग्रणी है।

प्रतीकात्मक शैली पर एक नाटक उड़ीसा के महाराज गजपति प्रतापरूद्र की आज्ञा से 1570 ई0 में कविकर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नाम से लिखा। इस नाटक में प्रतीकात्मकता के साथ-साथ पौराणिकता और चारित्रिक प्रधानता

भी विद्यमान है। 16वीं सदी के प्रतीकात्मक नाटकों में गोकुलनाथ का 'अमृतोदय' और रत्नखेट श्रीनिवास का 'भावनापुरूषोत्तम' उल्लेखनीय है।

तदन्तर इस शैली का अनुवर्तन भूदेव शुल्क ने 1625 वि0 के आस-पास 'धर्मविजय' नाटक लिखकर किया। 'धर्मविजय' के पश्चात् तञ्जौर के राजा शाहीराय शरभाजी के अमात्य आनन्दराय ने 18वीं सदी में दो नाटक 'विद्या-परिणयन' और 'जीवानन्द' लिखे जिनमें नाटकीयता की दृष्टि से पहली कृति श्रेष्ठ है। पाँच अङ्कों का एक प्रतीकात्मक नाटक श्रीनगर के राजकवि (सम्भवतः 1672 वि) मैथिल गोकुलनाथ 'अमृतोदय' नाम से लिख चुके थे। कवि सामराज दीक्षित ने भी 1738 वि0 में कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' की कथात्मकता के आधार पर 'श्रीदामाचरित' की रचना की।

प्रथम : अध्याय

प्रतीक नाटकों का उद्भव एवं विकास

प्रथम अध्याय - 'प्रतीक नाटकों का उद्भव एवं विकास'

प्रतीक नाटकों का उद्भव

1. वैदिक साहित्य में प्रतीकात्मकता :

भारतीय मानस सदैव से स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होता है। स्थूल बाह्य जगत् की अपेक्षा आन्तरिक भाव सूक्ष्म होता है। वैदिक ऋषियों का आन्तरिक भावजगत् की ओर अधिक ध्यान रहा है। इसलिए स्वभावतः इस सूक्ष्म भावात्मक एवं आन्तरिक भावराशि का वर्णन अथवा चित्रण बहुत विशाल पैमाने पर वैदिक युगों से ही होता रहा है लेकिन इन वर्णनों की बोधगम्यता उतनी आसान नहीं है जितनी कि उस विषय के प्रति आकर्षण एवं उन्मुखता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि आभ्यन्तर या आध्यात्मिक जगत् अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः इन चित्रणों को अधिक बोधगम्य एवं प्रभावशाली बनाने के लिए इनका वैयक्तीकरण करने और इन अमूर्त तत्त्वों को मूर्तता प्रदान करने की प्रेरणा वैदिक ऋषियों को निश्चित हुई होगी।

ऋग्वेद में प्रकृति की अमूर्त शक्तियों को मूर्त रूप में वर्णन करने की चेष्टा की गई है। जैसे शक्ति के अधिष्ठातृदेवता[1] इन्द्र के बारे में विहित उल्लेख देखा जा सकता है। इसी तरह 'वाक्सूक्त'[2] अमूर्त वाक् मूर्त रूप में अपना परिचय दे रही हैं। अमूर्त तत्त्वों को मूर्त स्वरूप देने की यह पहली विधा रूपक अलङ्कार की स्थिति में वर्णन करना या अमूर्त का किसी मूर्त

---

1 इन्द्र को शक्ति का स्वामी अर्थात् शचीपति कहा गया है। परवर्ती काल में शची की कल्पना इन्द्र की पत्नी के रूप में कर ली गई है परन्तु ऋग्वेद संहिता में 'शची' शब्द बहुवचन में भी आया है, जैसे शचीभिः (1:30,15:1,62,12 इत्यादि) जिससे इसका 'शक्ति' अर्थ समर्थित होता है।

2 10/125

पदार्थ से अभेदात्मक चित्रण करना भी है। इस विधा का प्रयोग ऋग्वेद के सातवें मण्डल में आए हुए मन्त्र[3] में बताया गया है कि अमूर्त अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ इत्यादि को इस मन्त्र में उलूक, चिड़ा (पक्षी विशेष), भेड़िया व गृध्र से अभिन्न रूप में दर्शाया गया है।

सामवेद में श्रद्धा को माता से अभिन्न रूप में व्यक्त किया गया है।

पितायत्कश्यपस्याग्नि: श्रद्धा माता मनुः कविः।[4]

इसी प्रकार यजुर्वेद में भी अनेक शक्तियों का वर्णन मूर्त व्यक्तियों के रूप में किया गया है।[5]

कृष्णयजुर्वेद में इन्द्रियों का सम्भाषण दिखाई पड़ता है। –

अहं भटकारं वाक्यं मनश्चार्तीयताम् अहं देवेभ्यो हव्यं वहामीति वागब्रवीत्, अहं देवेभ्यः इति मनः तौ प्रजापतिं प्रश्नमैतागम्। सोऽब्रवीत् प्रजापतिर्दूतीरेव तद्भटः तुभ्यम्। न वाचा जुहुवन्नित्यब्रवीत्। तस्मान्मनसा प्रजापतये जुह्वति इति।[6]

इस प्रकार के मन्त्र संहिताओं में हर तरफ दिखाई पड़ते हैं लेकिन फिर भी इनमें सादृश्य अथवा अभेद के माध्यम से ही अमूर्तो का मूर्तरूप में वर्णन हुआ है। अमूर्तो का मूर्त रूप में साक्षात् वर्णन इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है। यह शैली ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों एवं निरूक्त इत्यादि में दिखाई पड़ती है।

---

3 उलूकं यातुं शुशूलयातुं जहिश्वयातुभुतकोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृधयातुं दृषदेव प्रभृणरक्ष इन्द्र।। ऋ0, 7वाँ मण्डल

4 सामवेद पूर्वार्चिक, आग्नेयकाण्ड, प्रथम प्रपाठक, नवम खण्ड का दसवां मन्त्र

5 सुषारथिरश्वानिव यन्मनुस्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव।
हृत्प्रष्ठिं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।

6 कृष्णयजुर्वेद 11-5, 11-4

जैसे शतपथ ब्राह्मण में श्रद्धा एवं इड़ा को मूर्त स्त्रियों के रूप में बताते हुए कहा गया है, श्रद्धा देवो वै मनुः।[7]

वृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थान पर 'ते हेमे प्राणा अहं श्रेयते विवदमाना ब्रह्म जग्मुः। तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति। तद्धोवाच। यस्मिन् व उत्कान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते, स वो वसिष्ठ इति। वाग्घोच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच। कथमशकतमदृते जीवितुमिति। ते होचुः यथा कला, अवदन्तो वाचा, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा, श्रृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वांसो मनसा, प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह वाक्।।

चक्षुर्होच्चक्राम .... इत्यादि।[8]

इसी तरह छान्दोग्योपनिषद् अध्याय पांच एवं खण्ड एक में इन्द्रियों के विवाद का वर्णन किया गया है[9]-

अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहंश्रेयानस्मीति।।6।।

< < < <

< < < <

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सत्सरं ...... प्रविवेश ह वाक्

< < < <

< < < <

मनो हो च्चक्राम तत्संवत्सरं प्रेक्ष्य .... ह मनः।

ऐतरेय उपनिषद् में भूख एवं प्यास ईश्वर से कहती है कि हमारे लिए भी स्थान की व्यवस्था कीजिए।[10]

---

7 शतपथ ब्राह्मण- प्रथम काण्ड, अध्याय 8

8 वृहदारण्यकोपनिषद्- षष्ठ अध्याय, प्रथम ब्राह्मण, मन्त्र 7 से 14 तक।

9 छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय 5, खण्ड 1, पृ0 447-452

प्रश्नोपनिषद् में सभी इन्द्रियों, सभी महाभूतों एवं अंतःकरण के बीच परस्पर विवाद होता है-

ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामः। तान्हवरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पंचधाऽऽत्मानं प्रविभज्येतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः। सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्थेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्त तद्यथामक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणः स्तुवन्ति।।4।।[11]

निरूक्त में दिए हुए मन्त्र ब्राह्मण संहिता के एक उद्धरण में विद्या ब्राह्मण से वार्तालाप करती है। इस तरह इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक साहित्य में प्रारम्भ से ही अमूर्त तत्त्व मूर्त एवं चेतन रूप से व्यवहार करते हुए दिखाए गये हैं। हालांकि यह मूर्तिकरण मुख्यतः दिव्य तत्त्वों का है न कि भावतत्त्वों का।

रामायण में प्रतीकात्मकता :

रामायण में प्रतीकात्मकता का विकास दिव्य तत्त्वों के मूर्तिकरण से लेकर भावतत्त्वों के मूर्तिकरण में स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है।

प्रतीक शैली की परंपरा में किञ्चित् भिन्न रूपों में हमारे आदि कवि ने इस प्रतीक शैली का प्रयोग किया है।[12] हालांकि रामायण में कहीं भी इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन नहीं है, फिर भी उसकी रचनाशैली पर गम्भीरता से

---

10 तम् अशनायापिपासाभ्यामन्वार्जत्। ऐतरेयोपनिषद् अध्याय-1, खण्ड-2

11 प्रश्नोपनिषद् द्वितीय 2,3,4

12 प्रो0 कान्ता नाथ शास्त्री तैलंग के मतानुसार

विचार करने पर यह तथ्य आभासित होता है कि इसमें प्रतीकात्मकता को स्थान दिया गया है। भगवान राम, विवेक के प्रतीक हैं तो रावण मोह का। सीता, विवेक की पत्नी बुद्धि एवं मन्दोदरी मोह की पत्नी मिथ्यादृष्टि की प्रतीक हैं।

महाभारत में प्रतीकात्मकता :

महाभारत के प्रवर्तक के रूप में महर्षि वेदव्यास ने प्रतीक शैली का यथायोग्य प्रयोग किया है। महाभारत के आदिपर्व में अमूर्त भावतत्त्व मूर्तमानव सम्बन्ध में कल्पित हुए हैं। धर्म की दस पत्नियों के साथ तीन पुत्र और पुत्र-वधुओं का भी महाभारत में वर्णन किया गया है।[13]

महाभारत में यह वर्णन न केवल अमूर्त का मूर्तीकरण है बल्कि अमूर्त का चेतनीकरण या बहुत कुछ अंशों में उसका मानवीकरण भी है। महाभारत काल तक में इस वैयक्तीकरण प्रक्रिया में एक स्पष्टस्वरूप प्रकट हो गया है तथापि संवाद इत्यादि के अभाव के कारण इस मूर्तीकरण में सशक्तता एवं नाटकीयता आयी। बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों में उल्लिखित 'जातक-निदान' कथाओं में भी कहीं-कहीं प्रतीक शैली का प्रयोग दिखाई पड़ता है। 'जातक-निदान'

---

13 कीर्तिलक्ष्मी धृतिर्मेधा, पुष्टिश्रद्धा क्रिया तथा।।
बुद्धिर्लज्जामतिश्चैव पत्नयो धर्मस्य तादश।।
दाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयम्भुवा।।
त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभुत मनोहरा।।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणा।
कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिङ्गना।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासुलोकाः प्रतिष्ठिताः महाभारत आदिपर्व 66-14, 15
महाभारत आदिपर्व 66-32
महाभारत आदिपर्व 66-33

कथा के 'अविदूरेनिदान' के 'मारविजय' सम्बन्धी आख्यायिका और 'शान्तिकेनिदान' की अजयपाल के बाद की आख्यायिका में प्रतीकात्मक शैली का अधिकतर प्रयोग हुआ है। किन्तु इस काल तक भी संवादात्मक रीति से तथा अनुभूति के माध्यम से किए गए व्यवहारों का पूर्ण सन्निवेश इन प्रतीक पात्रों के चरित्र में नहीं हो पाया। पात्रों की प्रतीकात्मकता का ढाँचा इन कथाओं में तैयार अवश्य हो गया लेकिन उन पात्रों के व्यवहार में स्फुट सजीवता बिल्कुल भी नहीं आयी और यह काम या तो ऐसी कथाओं के माध्यम से संभव हो सकता था जिसमें नायक या नायिका स्वयं प्रतीक पात्र के रूप में आये हों या फिर गौण रूप में आये हों या इन प्रतीक पात्रों की अवतारणा नाटकों के द्वारा की गई हो।

भास के 'बालचरितम्' में प्रतीकात्मकता

संस्कृत साहित्य के सबसे पहले नाटककार महाकवि भास के बालचरित नामक नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों के प्रयोग की झलक मिलती है। बालचरितम् की कथावस्तु के अनुसार जब वसुदेव बालक कृष्ण को यमुना के पार ले जाकर नन्द को देते हैं तब उस बालक का भार इतना ज्यादा हो जाता है कि नन्द उसे आगे लेकर जाने में असमर्थ हो जाते हैं। उस समय कृष्ण के दिव्य अस्त्र और वाहन मूर्त मानव के रूप में दिखाई पड़ते हैं लेकिन ऐसे स्थान पर शुद्ध प्रतीकात्मकता नहीं स्वीकार की जा सकती क्योंकि ये दिव्य तत्त्व हैं। अमूर्त भावतत्त्व या अदृश्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं हैं और दिव्य तत्त्वों की दिव्यता का फल यह है कि वे जिस रूप में चाहें प्रस्तुत हो सकते हैं। कवि कल्पना मात्र से उसमें मूर्तत्व नहीं आता जबकि इस बालचरितम् के द्वितीय अङ्क में

अवश्य प्रतीकात्मक प्रयोग की झलक दिखलाई पड़ती है जबकि शाप तथा राज्यश्री स्वयं पात्र के रूप में आते हैं। शाप चाण्डाल के भेष में मुण्डमाला पहने हुए कंस के महल में आना चाहता है। द्वारपाल मधूक उसे दरवाजे पर रोकता है। चाण्डालवेषी शाप अपनी शक्ति के द्वारा उस महल में प्रवेश कर जाता है। उसी समय कंस के राजवैभव की प्रतीक राज्यश्री स्त्रीपात्र के रूप में उपस्थित होकर उसको रोकती है। शाप कहता है कि तुम मुझे क्यों रोकती हो, मैं तो भगवान विष्णु की अनुमति से ही यहाँ प्रविष्ट हुआ हूँ। भगवान विष्णु का नाम सुनकर राज्यश्री उसे जाने देती है और स्वयं हट जाती है। चाण्डाल रूप में शाप कंस के पास पहुंच जाता है और कहता है-

अपक्रान्ता राज्यश्रीः। हन्तेदानीमिदमस्माकमावासः संवत्तः। अलक्ष्मि। खलति कालरात्रि। महानिद्रे। पिङ्गलाक्षि। अभ्यन्तरं प्रविष्य स्वजातिसदृशी क्रीडा क्रियताम्। < < < <

परिष्वजामि गाढ़ं त्वां नित्याधर्मपरायणम्
प्राप्नोमि मुनिशापस्त्वामचिरान्नाशमेष्यसि।[14]

उपरोक्त श्लोक में शाप और राज्यश्री आदि अमूर्त तत्त्वों का पात्र रूप में उपस्थित होना प्रतीक शैली का सफल नाटकीय प्रयोग है। सबसे विचित्र बात यह है कि संस्कृत के प्रथम नाटककार के नाटक में प्रतीकात्मक शैली के नाटकों का बीजारोपण होने लगता है लेकिन फिर भी यह बीज केवल बीज ही रह जाता है। यह प्रतीकात्मक शैली के नाटकों का प्रस्फुटित रूप नहीं है। 30-40 पात्रों की सूची में एक, दो प्रतीक पात्र वह भी गौण पात्र और चार

---

14 बालचरितम्, द्वितीय अङ्क, पृ0 37

छह वाक्य मात्र का संवाद करके ही नाटक को प्रतीकात्मक नाटक कहे जाने में समर्थ नहीं बना सकते, लेकिन फिर भी प्रतीकात्मक पात्रों की कल्पना, रङ्गमञ्च पर उनकी अवतारणा और उनका संवादात्मक भूमिका निर्वाह करना नाटकों की परम्परा के उद्भव का मार्ग खोलता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि शाप एवं राज्यश्री शुद्ध भावात्मक पात्र न होने पर भी विष्णु के अस्त्रों और वाहन की भाँति दिव्य तत्त्व नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इनका मूर्तत्व बहुत कुछ अंशों में कवि द्वारा कल्पित किया गया है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में प्रतीकात्मकता

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रणेता महाकवि कालिदास हैं। उन्होंने अपने नाटकों में भावतात्त्विक प्रतीक पात्रों का प्रयोग नहीं किया है। 'शाकुन्तलम्' के चौथे अङ्क में प्रतीकात्मकता की कुछ झलक अवश्य मिलती है। जब शकुन्तला की विदाई की तैयारी होती है तो उस समय वनवृक्षों ने चन्द्रमा सदृश शुभ्र रेशमी वस्त्र, किसी ने लाक्षारस और किसी ने कोमल किसलय रूपी वनदेवी के करतलों के द्वारा आभूषण प्रदान किए हैं।[15]

प्रियम्वदा के अनुसार वृक्षों की यह अभ्युत्पत्ति शकुन्तला की भावी राजलक्ष्मी की सूचक है किन्तु न तो वृक्ष अमूर्त हैं कि उनका मूर्तीकरण हुआ है तथा न ही वे कुछ मानवोचित कार्य करते हैं- जैसे बोलना, चलना, प्रदान करना आदि। वृक्षों से जो वस्तुएं मिलती हैं वे मौके से मिल गईं। कवि ने

---

15 क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरूणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।
अभिज्ञान शाकुन्तलम्- अङ्क-4, श्लोक 5

इसी को शुभ शकुन समझा और इसी में उसने वनस्पतिकृत सेवा की कल्पना की है। वृक्षों में मानवीकरण नहीं कल्पित किया गया। शकुन्तला की विदाई के समय जब वह वनवृक्षों से अनुमति लेकर चलना चाहती है तब वन वृक्ष कोकिल के शब्दों में उसे अनुमति देते हैं। उसके बाद आकाशवाणी के रूप में वन देवियों का आशीर्वाद शकुन्तला को मिलता है। यहाँ पर कोकिल का बोलना एक संयोग है जबकि आकाशवाणी दिव्य व्यापार है। इसमें प्रतीकात्मकता बिल्कुल नहीं है। शकुन्तला के वियोग में लताओं का पीले पत्ते के रूप में अश्रु बहाना भी वनस्पति सुलभ व्यवहार ही है। इस तरह हम देखते हैं कि कालिदास के नाटकों में अमूर्तो के मूर्तीकरण या भावतत्त्वों के मानवीकरण रूप में कोई भी प्रतीकात्मकता नहीं है।

अश्वघोषकृत प्रथम प्रतीक नाटक :

महाकवि अश्वघोष राजा कनिष्क के समकालीन हैं। इसलिए उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है। अश्वघोष को हम बौद्ध दार्शनिक भी कह सकते हैं। इन्होंने महायान श्रद्धोपाद, बज्रसूची, गण्डीस्त्रोत्रगाथा एवं सूत्रालङ्कार नामक दार्शनिक ग्रंथों की रचना की। यद्यपि प्रो0 लूडर्स के अनुसार अश्वघोष ने सूत्रालङ्कार की रचना नहीं की बल्कि इसकी रचना कुमारलात ने की।[16] डा0 राघवन ने विविधसूत्रानुगत सूत्रों से इनके उन्नीस ग्रन्थ बताए हैं।[17] बुद्धचरित और सौंदरनन्द अश्वघोष के महाकाव्य हैं। प्रसिद्ध

16 महाकवि अश्वघोष- डा0 हरिदत्त शास्त्री पृ0 45

17 महाकवि अश्वघोष- डा0 हरिदत्त शास्त्री पृ0 45

विद्वान् सिलवांलेवी के मतानुसार अश्वघोष संभवतः एक गेय नाटक के भी लेखक हैं जिसमें राष्ट्रपाल के बारे में वर्णन किया गया है।[18]

सन् 1911 ई0 में मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान से प्राचीनकाल के ताम्रपत्र पर अङ्कित तीन बौद्धनाटकों की खण्डित पाण्डुलिपियों की एच0 लूण्डर्स ने खोज की।[19] इन तीनों पाण्डुलिपियों में एक का कर्तृत्व तो निश्चित है क्योंकि उसके अंतिम अङ्क की पुष्पिका सुरक्षित है। इसमें कहा गया है कि "शारिपुत्रप्रकरणे नवमोऽङ्कः। सुवर्णाक्षी पुत्रस्य भदन्ताश्वघोषस्य कृतिश्शारद्वतीपुत्रप्रकरणं समाप्तम्।"

प्रस्तुत नाटक में शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन की बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कहानी का वर्णन किया गया है। इसमें एक पद्य बुद्धचरित से पूर्ण रूप से लिया गया है एवं सूत्रालङ्कार में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का दो बार निर्देश किया गया है। नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार यह रचना 'प्रकरण' है। भरतवाक्य के नायककृत न होने और 'मृच्छकटिक' की भांति अङ्कों का नाम न रखने के अतिरिक्त और हर प्रकार से यह प्रकरण प्राचीन शास्त्रीय प्रकरण नाटक पद्धति के अनुसार ही है। यहाँ पर स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है कि इस नाटक में कोई अमूर्त पात्र मूर्तरूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः यह नाटक प्रतीक नहीं है। न तो इसमें लेशमात्र प्रतीकात्मकता भी किसी अंश में दिखाई पड़ती है। कुछ विद्वानों[20] ने इस नाटक में बुद्धि, कृति, धृति आदि पात्रों

---

18 महाकवि अश्वघोष- डा0 हरिदत्त शास्त्री पृ0 45

19 संस्कृत नाटक- ए0वी0 कीथ पृ0 72

20 (क) महाकवि अश्वघोष- डा0 हरिदत्त शास्त्री पृ0 93

(ख) यतिराजविजयनाटकम् ति कु0वे0न0 सुदर्शनाचार्य प्रस्तावना पृ0 3

का समावेश स्वीकार किया है जबकि ग्रन्थ के अध्ययन करने से इस भ्रान्त धारणा का निराकरण होता है जबकि वास्तविकता यह है कि शारिपुत्रप्रकरण के अलावा जिन दो नाटकों की खण्डित पाण्डुलिपियाँ लूडर्स के द्वारा इसी के साथ उपलब्ध की गई हैं उनमें किसी प्रतीकात्मक नाटक का अंश है और तीसरा मागधवती नाम की गणिका, कुमुदगन्ध नाम का विदूषक एवं सोमदत्त नायक विषयक एक सामान्य परम्परा का नाटक था। मौद्गल्यायन, शारिपुत्र एवं धनञ्जय आदि भी इसके पात्र हैं। यह नाटक खण्ड सामान्य नाटक परम्परा की रचना का अंश है। इस नाटक में कोई प्रतीकात्मकता नहीं है।

इस तरह से इन तीन नाटकों में से दूसरी रचना के पात्र ही प्रतीकात्मक हैं। यही हमारे अध्ययन का विषय है। प्रस्तुत नाट्यांश बहुत ही संक्षिप्त एवं केवल एक पृष्ठ का है। बहुत ही त्रुटित अंश के रूप में यह लूडर्स महोदय को मिला। यह अंश लूडर्स के BRUCHSTVCKE BUDDISITSCHER DRAMEN के 66वें पृष्ठ पर 1911 में बर्लिन से प्रकाशित हुआ है। देवनागरी लिपि में इसका अक्षुण्ण रूप निम्नलिखित रूप में दिखाई पड़ता है-

1. यू भवनिवर्त्तकेषु क्लेशेषु न किञ्चिद् अस्तिप्रहातव्यं यस्य नित्यम् अनित्यं (-) व (ा) न क () च (ि) द् अस्त (ि) बोद्धव्य (-) - त0 म्0य्0न्0क्ष्0 प्त्0 .... (म्) (य) ऊ ख्0र0 3 .... (र्) ज्0 (य्) स्य्0 (ध्0) व्0 (स्) त्0 .... येनवाप्तम् परमममृतम् दुर्लभमृतम् मनोबुद्धिस्तस्मिन्नहमभिरमेंशन्तिपरमें- धृति- अस्ति तत् मत्प्रभावपरिगृहीत पुरूषसंज्ञकम् तेजः प्रादुर्भुत (म) 3. .... (द) । नी .... क्0 ....

बुद्धिः- तथा तत् अपिच- नित्यं स सुप्त (इ) व यस्य न बुद्धिरस्ति नित्यं स मत्त इव यो धृतिबिप्रहीण ..... स च य (स) य्0न्0क्0

पृष्ठ भाग

1. .... ति (ठ्) यस (य्) ा कीर्तिः-

क्व पुनरिदानीं पुरूषविग्रहो धर्मः सम्प्रति विहरतिबुद्धिः स्वाधीनायामृद्धो क्व पुनर्नविह .... व व्योम्नि याति व्र ....

2. .... स (ङ्) ग्0 (स्) त्0 (य्) .... द ....

गाम् प्रविशति बहुधा मूर्तिं विभ (जाति) खे वर्षत्यम्बुधारां प्रविशति बहुधा मूर्तिं विभ (जाति) खे वर्षत्यम्बुधारां ज्वलति च युगपत् सान्ध्यम्बुद इव स्वच्छन्दात् = पर्व .... (व्) रजति च वि (धिव) (द्) = ध .... (म्) म्0 () = च्0 (च)

3. .... (ङ्) .... गोचर : धृतिः तेन हि सर्त्वा येव तावदेवं वासवृक्षीकुर्मः हि स महर्षिर्मगधपुरस्योपवने

सम्प्रति- सोर्ण्णव्ध (,) स् = तमिमृदुजालपाणिपा (द)

उपर्युक्त विवरण केवल एक पृष्ठ का है जिसमें ऊपर एवं नीचे दोनों ओर लिखा है। इसमें बुद्धि एवं धृति परस्पर वार्ता करती हैं। धृति का कहना है कि मेरे प्रभाव से युक्त पुरूष संज्ञक तेज उत्पन्न हो गया है। इस सूक्ष्म अंश में भी कई शब्द एवं वाक्य पाण्डुलिपि के जीर्ण एवं गलित होने के कारण लुप्त हो गए है। इसलिए कोई वाक्य ठीक प्रकार से पूरा नहीं हो पाता। फिर भी जोड़-तोड़ कर यह धृति, बुद्धि, कीर्ति के यत्किञ्चित् कथन प्रतीत होते हैं। धृति के कथन के बाद बुद्धि का यह वक्तव्य पढ़ने में आता

है कि फिर भी वह नित्य ही सोया है जिसके बुद्धि नहीं है वह नित्य ही मत्त सदृश हैं जो धृति से शून्य है। इसके बाद प्राप्त संलाप में कीर्ति का कहना है कि पुरूष शरीर धारी धर्म इस समय कहाँ भ्रमण कर रहे हैं? बुद्धि इसका जबाव देती है कि सब ऋद्धियों एवं सिद्धियों को अधीन कर लेने से वह कहाँ नहीं विचरण कर सकते? वे पक्षियों की भांति आकाश में भी विचरण करते हैं। तत्पश्चात् उन्हीं सिद्धियों का वर्णन है कि वह पुरूष शरीरधारी धर्म अपने शरीर को कई रूपों में विभाजित कर देते हैं और अपनी इच्छा से आकाश में जलधारा की वर्षा करते हैं और सायंकालिक मेघों के समान ज्वाजल्यमान भी रहते हैं। इसके आगे त्रुटितांशों के बाद धृति कहती है- तो फिर हम लोग सभी उनको अपने निवास का वृक्ष बनावें अर्थात् उसमें निवास करें। वे महर्षि अर्थात् पुरूष शरीरधारी धर्म (कदाचित् भगवान् बुद्ध) मगधपुर के उपवन में इस समय उपस्थित हैं। इसके आगे की प्रति पूर्णरूप से खण्डित है। इसमें केवल दो पद मिलते हैं। .... स ऊर्णभूः या स्वर्णभूः एवं- 'तमिमृदुजालपाणिपादः' जो कदाचित् उनके बैठने की मुद्रा के सम्बन्ध में उनके विशेषण हैं। हालांकि समुपलब्ध हुए इतने छोटे अंश से न तो नाटक की कथावस्तु के बारे में कोई विशेष ज्ञान होता है न उसमें अभिव्यञ्जित रस के बारे में कोई जानकारी होती है। इसके अतिरिक्त न तो सभी पात्रों से परिचय ही प्राप्त होता है, न नाटक के अन्य किसी भी उपादान के बारे में कोई जानकारी प्राप्त होती है लेकिन फिर भी केवल इन तीन पात्रों-धृति, बुद्धि एवं कीर्ति के ज्ञान हो जाने से और उनके व्यवहार की अथवा सम्भाषण की प्रणाली से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि यह एक प्रतीक नाटक

रहा होगा जिसमें अमूर्त भावात्मक पात्र मूर्तिमान मानव पात्रों की तरह रङ्गमञ्च पर पदार्पण करते हैं, आपस में वार्ता करते हैं और कथानक अपनी नैसर्गिक गति से आगे बढ़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितना अंश सुलभ होता है उससे ही निष्कर्ष निकलता है कि इसमें यथार्थ पात्र मानव या दिव्य कोई भी रङ्गमञ्च पर नहीं आते। जिस पुरूष विग्रह धारी धर्म की ओर संकेत करते हैं वे भले ही मगधपुर के उपवन में निवास करने वाले गौतमबुद्ध ही क्यों न हो, किन्तु इतने मात्र से यह स्पष्ट नहीं होता है कि इन तीनों पात्रों का संलाप दिखाया गया होगा क्योंकि धृति की योजना उनको वास वृक्ष बनाने की है, उनसे वार्ता करने या उपदेश ग्रहण करने की नहीं है। वास वृक्ष बनाने का तात्पर्य यह है कि उनमें समाविष्ट हो जाने पर उसमें निवास करने से है। इस तरह यह नाटक शुद्ध रूप में प्रतीकात्मक रहा होगा क्योंकि प्रतीक पात्रों से वार्ता करते हुए बताया गया है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि कीर्ति, धृति इत्यादि पात्र भास के 'बालचरितम्' में आए हुए शाप एवं राज्यश्री की भांति दिव्य शक्ति या सिद्धिजन्य प्रभाव के कारण कई रूप धारण करने वाले नहीं हैं, बल्कि कवि की कल्पना से ही इनमें मूर्तत्व, चेतनत्व एवं मनुष्यत्व प्रतिष्ठापित किया जा सकता है। इसीलिए पूर्ण अंशों में यह नाटक खण्ड एक शुद्ध प्रतीक नाटक की सत्ता को सिद्ध एवं व्यक्त करता है। कीर्ति, धृति एवं बुद्धि आदि का स्थान इस नाटक में नगण्य रहा होगा। यह तथ्य उनके नाटक के शुरू में उपस्थित होने और परस्पर होने वाले संस्कृत वार्तालाप से स्पष्ट होता है।

अश्वघोषकृत नाटक का कर्तृत्व :

अश्वघोषकृत नाटक में कर्तृत्व के संदर्भ में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता है। हालांकि परिपुष्ट कल्पना एवं यथार्थ अनुमानों के आधार पर हम यह निर्णय ले सकते हैं कि यह अश्वघोष की ही कृति है। इस संदर्भ में निम्नलिखित तर्क उपादेय हो सकते हैं-

1. यह नाटक खण्ड उसी हस्तलेख में मिलता है जिसमें अश्वघोष की अन्य प्रमाणित कृति 'शारिपुत्रप्रकरण' प्राप्त होती है।
2. प्रस्तुत पाण्डुलिपि की सामान्य रूपरेखा वही है जो शारिपुत्रप्रकरण की है।
3. यह रचना भी भगवान गौतम बुद्ध के गरिमामय व्यक्तितत्व के सम्बन्ध में हुई है अतः यह कृति बौद्धानुयायी की ही हो सकती है।
4. शारिपुत्रप्रकरण की समसामयिक नाट्य रचना कर सकने वाले किसी अन्य बौद्ध कवि से हम लोग अनभिज्ञ हैं। इसलिए किसी बाधक प्रमाण के अभाव में इसके रचयिता के रूप में अश्वघोष को स्वीकार करने में कोई असंगति नहीं मालूम पड़ती।
5. इसमें प्रयोग होने वाली भाषा की सरलता, प्राञ्जलता एवं स्पष्ट उक्तिप्रवणता के आधार पर भी यह सिद्ध नहीं होता है कि यह अश्वघोष की रचना नहीं हो सकती।
6. भाषा के अलावा अलङ्कार योजना की दृष्टि से भी अश्वघोष की अन्य प्रमाणित कृतियों से इसका रचना सादृश्य प्रतीत होता है, जैसे कीर्ति, पुरूष विग्रहधारी धर्म या गौतमबुद्ध की सिद्धिमत्ता का उल्लेख करते हुए वह कहती है-

'खे वर्षन्त्युम्बुधारां ज्वलति च युगपत् सान्ध्यम्बुद ख-'

इसी प्रकार का चित्रण 'सौन्दरनन्द' के तीसरे अङ्क में उल्लिखित किया गया है-

"युगपत् ज्वलन् ज्वलनात् च जलमेवसृजनंश्चमेघवत् तप्तकनक सदृश प्रभया सब भौ प्रदीप्त इव सन्ध्या घना।"

उपर्युक्त उदाहरण में न केवल वर्णित चित्र की समानता है बल्कि उनके प्रकाशक शब्दों में भी समानता है। 'युगपत् ज्वलन' एवं 'ज्वलति च युगपत्' शब्दों की समानता एक निर्भ्रान्ति सा सादृश की धारणा प्रदान करती है।

7. इस कृति में तीसरा नाटक खण्ड जो प्राप्त होता है वह भी उसी समय की रचना है। यह रचना किसी बौद्ध कवि द्वारा की गई है। शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन पात्रों के सन्निविष्ट होने के कारण अश्वघोष की ही रचना प्रतीत होती है।

8. इस तरह से प्राप्त पाण्डुलिपि में वर्णित प्रथम एवं तृतीय रचनाएं अश्वघोषकृत हैं, तो यह संभावना बढ़ जाती है कि यह कृति अश्वघोष की ही है। डा0 जान्स्टन,[21] प्रो0 एस0के0 डे[22], डा0 कीथ[23] तथा प्रो0 बलदेव उपाध्याय[24] आदि विद्वान् भी इस रचना को अश्वघोषकृत स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इस कृति की रचना अश्वघोषकृत शारिपुत्रप्रकरण की रचना के आस-पास ही मानना उचित प्रतीत होता है।

---

21 बुद्धचरित का अंग्रेजी अनुवाद- भूमिका 20-21

22 हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर- एस0के0 डे पृ0 77

23 संस्कृत ड्रामा- कीथ पृ0 230

24 संस्कृत साहित्य का इतिहास- बलदेव उपाध्याय पृ0 205

यदि यह नाटक खण्ड पूर्ण रूप में सुलभ होता तो पता चलता कि यह पूर्ण रूप से प्रतीक पात्रों के द्वारा ही अभिनीत नाटक था जैसे कि अन्य नाटकों को देखने से प्रतीत होता है। अनुमान तो यह होता है कि यह पूर्णरूप से प्रतीकात्मक नाटक रहा होगा, क्योंकि इस अंश में बुद्ध का परिचय प्राप्त होता है जो कि प्रायः यही सिद्ध करता है कि यह नाटक का प्रथम अंश है और प्रथम अंश में आए हुए प्रतीक पात्र निश्चित ही मुख्य पात्र होंगे। आगे चलकर ये पात्र गौतमबुद्ध से मिलने हेतु कृत प्रतिज्ञ हैं। इस तरह अमूर्त एवं मूर्त, कल्पित एवं यथार्थ पात्रों का संवाद यदि होता है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि इससे नाटक की प्रतीकात्मकता उसके बाद समाप्त हो जाती है। इसका प्रमुख उदाहरण 'चैतन्यचन्द्रोदय' है। यह नाटक पूर्णतः प्रतीकात्मक होगा, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं।[25] यदि यह पूरा नाटक प्रतीकात्मक न भी रहा हो तो भी कोई अंतर इस बात में नहीं आता कि यह नाटक शुद्ध प्रतीक प्रयोगों की उत्पत्ति करता है।

भास के बालचरितम् में प्रतीकात्मकता का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यद्यपि उसमें यह प्रधान न होकर गौण रूप में ही पाया जाता है। नाटक की कथावस्तु का नायकत्व शाप, राज्यश्री आदि में नहीं है। शापकृत प्रभाव के मूर्तरूप का अभिनय स्वरूप ही केवल दिखाई पड़ता है, अतः बालचरित प्रतीक नाटक न होकर सामान्य शैली के नायक कृष्ण के चरित का नाटकीय अङ्कन है। रस के दृष्टिकोण से भी प्रतीक नाटकों के अग्रणी होने का श्रेय बालचरित

---

25 (क) बलदेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ0 205
(ख) संस्कृत ड्रामा- कीथ पृ0 76 (अनूदित)

को कभी नहीं मिल सकता। बालचरित वीर रस प्रधान नाटक है जबकि उसके पश्चात् लिखे गए सभी प्रतीक नाटक शान्तरस प्रधान नाटक हैं। बालचरित की कथावस्तु प्रख्यातवृत्त है जबकि अन्य प्रतीक नाटकों की कथावस्तु पूर्णरूप से कल्पित एवं निजन्धरी होती है। वस्तु, रस, नेता नाटक के इन तीनों उपादानों की दृष्टि से चिंतन करने पर यह सिद्ध होता है कि बालचरित प्रतीक नाटकों का न तो आदर्श रहा है और न सूत्रपातिक बिन्दु बल्कि अश्वघोष का यह नाटक अवश्य ही अपनी शैली, वस्तु, नेता एवं रस इत्यादि सभी दृष्टियों से प्रतीक नाटक की युगान्तर में चलने वाली परम्परा का प्रेरणास्रोत रूप पहला सफल प्रयोग रहा होगा।

इस प्रतीक नाटक में भविष्यकालिक प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता एवं धार्मिकता का बीज दिखाई पड़ता है। अश्वघोष की अन्य रचनाओं की भांति इस कृति में भी अङ्गीरस शांत ही रहा होगा। इस बात का बाधक कोई प्रमाण नहीं है इसलिए इस रचना को प्रतीक नाट्य परम्परा का प्रथम आविर्भाव मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत होती।

अब यहां पर एक प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सी सम्भावित सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियां रही होंगी, जिनके परिणामस्वरूप अश्वघोष की लेखनी से इस प्रथम प्रतीक नाटक की रचना हुई। जहां तक स्पष्ट है कि अश्वघोष काल में धार्मिकता एवं दार्शनिकता का बोलबाला था। अश्वघोष स्वयं बौद्धधर्म एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे। कनिष्क के काल में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति जो काश्मीर में हुई थी, इसमें उन्होंने भाग लिया था।[26]

---

26 एनशिएंट इण्डिया, आर0के0 मुकर्जी पृ0 230

अश्वघोष ने महायान श्रद्धोत्पाद संग्रह एवं सूत्रालङ्कार जैसे उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया था इसलिए बौद्ध दर्शन की सूक्ष्म जटिलताओं एवं दुरूहताओं को सुलझाने तथा सरस एवं चित्ताकर्षक माध्यम से बौद्धधर्म की मूर्त कल्पना का सहारा लिया होगा। किसी विषय को स्पष्ट एवं प्रभावशाली बनाने की अदम्य आकांक्षा विधाओं के सुलभ एवं ज्ञात होने पर रोकी नहीं जा सकती। अमूर्त को मूर्त रूप में कल्पित करके व्यवहार चलाने की परम्परा महाभारत काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। भास ने, बालचरित में, बीच में शाप इत्यादि अमूर्त पात्रों को ला दिया था, दिशा खुल चुकी थी, सरणि बन गई थी। उसका सम्यक् एवं सर्वाङ्गीण उपयोग भर करना था जिसके फलस्वरूप कवि अश्वघोष की कल्पना मुखर हो उठी होगी और संस्कृत साहित्य के प्रथम प्रतीक नाटक की रचना हो गयी। आज भले ही यह हमें खण्डित रूप में मिलती हो लेकिन संतोष का लाभ तो मिलता ही है, चाहे अनुसंधित्सा को पूर्ण तृप्ति न मिल पाए।

अश्वघोष के द्वारा खोले गए इस मार्ग को प्रशस्त करने का कार्य किया श्रीकृष्ण मिश्र ने। श्रीकृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' ही वह प्रथम प्रतीक नाटक है जो पूर्णरूप से समुपलब्ध है जिसने 11वीं शताब्दी में नाटकों की एक सुप्त धारा को पुनरूज्जीवित किया और जिससे प्रेरित हो कई नाटककारों ने प्रतीक शैली में अपनी सूचनाएं लिखीं।

वस्तुतः श्रीकृष्ण मिश्र की रचना को ही प्रतीक नाटकों के उद्भव का आधार स्तम्भ मानना चाहिए। अश्वघोष की रचना में तो मात्र बीज का प्रस्फुटन ही हुआ था, पल्लवित-पुष्पित एवं फलित करने का श्रेय तो कृष्णमिश्र

को ही जाता है, अतः 'प्रबोधचन्द्रोदय' ही प्रतीक नाटकों की प्रतिनिधि रचना मानी जा सकती है।

प्रतीक नाटक- विकासक्रम :

प्रतीक नाटकों में अमूर्त भावों को मूर्त रूप में वर्णित किया गया है। मनुष्य के हृदयगत भाव तब तक सूक्ष्म ही होते हैं, जब तक उनकी अमूर्तता को मूर्त रूप में प्रकट नहीं किया जाता एवं उनको स्थूल इन्द्रियों के माध्यम से देखा नहीं जा सकता। परन्तु जब उन्हें प्रतीक शैली के माध्यम से मूर्तरूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है तो वे ही अमूर्त भाव अद्भुत प्रभाव शक्ति से युक्त सजीव रूप में अनुभूत होने लगते हैं। इस तरह के नाटकों में न केवल श्रद्धा, क्षमा, विवेक इत्यादि अमूर्त भावनाओं को मानवरूप में वर्णित किया गया है बल्कि न्याय, आन्वीक्षिकी आदि शास्त्र, यक्ष्मा-विषूची आदि रोग संजीवनी (लता विशेष) औषधियों को भी मानव रूप में वर्णित किया गया है। इस तरह इसमें न केवल अमूर्त का मूर्तीकरण किया जाता है बल्कि उन्हें मानव रूप में मूर्तिमान किया जाता है।

संस्कृत में लिखे गए अधिकांश प्रतीक नाटकों की सूची निम्नलिखित है-

1.	अश्वघोष	एक खण्डित प्रति वाला प्रतीक नाटक
2.	श्रीकृष्ण मिश्र	प्रबोधचन्द्रोदयम्
3.	यशःपाल	मोहराज पराजयम्
4.	कविकर्णपूर	चैतन्य चन्द्रोदयम्
5.	वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक)	सङ्कल्पसूर्योदयम्
6.	गोकुलनाथ	अमृतोदयम्

7.	भूदेवशुक्ल	धर्मविजय नाटकम्
8.	आनन्दराय मखी	विद्यापरिणयम्
9.	आनन्दराय मखी	जीवानन्दम्
10.	नल्लाध्वरी	जीवन्मुक्तिकल्याणम्
11.	श्रीकृष्ण दत्त मैथिल	पुरञ्जन चरितम्
12.	श्रीवत्स्य वरदाचार्य	यतिराजविजयनाटकम्
13.	वारिचन्द्र सूरि	ज्ञानसूर्योदय नाटकम्
14.	घनश्याम	प्रचण्डराहूदयम्
15.	नल्लाध्वरी	चित्तवृत्तिकल्याणम्
16.	वैजनाथ	सत्सङ्गविजयनाटकम्
17.	नृसिंह मिश्र	शिवनारायण भाण्जामहोदयनाटिका
18.	शुक्लेश्वर नाथ	प्रबोधोऽयनाटकम्
19.	जातवेद	पूर्ण पुरूषार्थ चन्द्रोदयम्
20.	यशःचन्द्र	मुद्रिट कुमुद चन्द्रम्
21.	रविदास	मिथ्याज्ञानखण्डनम्
22.	जीवादेव	भक्तिवैभवनाटकम्
23.	नरसिंह कवि	अनुमिति परिणयम्
24.	रामानुज कवि	विवेकविजय नाटकम्
25.	सुदर्शनाचार्य	सिद्धान्तभेदी नाटकम्
26.	रत्नखेट श्रीनिवास	भावनापुरूषोत्तम नाटकम्
27.	सामराज दीक्षित	श्रीदामाचरितम्
28.	चिरंजीवि भट्टाचार्य	विद्वन्मनोरञ्जनी

29.	मल्लारि आराध्य	शिवलिङ्ग सूर्योदयम्
30.	जगन्नाथ शीघ्रकवि	सौभाग्य महोदय नाटकम्
31.	इन्दिरेश कवि	विजयरञ्जन नाटकम्
32.	अनन्त देव	कृष्ण भक्तिचन्द्रिका नाटकम्
33.	सुन्दर शास्त्री	स्वात्मप्रकाश नाटकम्
34.	कृष्णवलदे दामोदर मिश्र	पाखण्डधर्मखण्डन नाटकम्
35.	अनन्त पण्डित	स्वानुभूति नाटकम्
36.	धर्मदेव	धर्मोदय नाटकम्
37.	शिव	विवेक चन्द्रोदय नाटिका
38.	अनन्त नारायण सूरि	मायाविजयम्
39.	पद्मसुन्दर	ज्ञानचन्द्रोदयम्
40.	त्रिवेणी	तत्त्वमुद्राभद्रोदयम्

इनमें से निम्नलिखित नाटक प्रकाशित हो गए हैं-

1. प्रबोधचन्द्रोदयम्[27] चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-1, 1955 ई0
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- निर्णयसागर प्रेस 23, कोलभट लेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण 1917 ई0
3. मोहराजपराजयम्- सम्पादक मुनिचतुर्विजय जी, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा 1918 ई0

---

27 (क) दो टीकाओं के साथ निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित, षष्ठावृत्ति, सन् 1935
(ख) गोविन्दामृत भगवत्कृतयानाटकाभरणारख्य व्याख्या कृष्णमिश्र त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज नम्बर 122 राजकीय मुद्रण यंत्रालय से प्रकाशित सन् 1936

4. सङ्कल्पसूर्योदयम्- अड्यार पुस्तकालय से प्रकाशित मद्रपुरी, 1948 (प्रभाविलास एवं प्रभावली व्याख्या सहित) दो भाग

5. विद्यापरिणयम्- निर्णय सागर प्रेस 26-28 कोलभट लेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण 1930

6. अमृतोदयनाटकम्[28] निर्णय सागर प्रेस 26-28 कोलभट लेन बाम्बे, द्वितीयावृति 1935 ई0

7. पुरञ्जनचरितम्- चैटर बुकस्टाल आनन्द डब्लू0आर0, इण्डिया, प्रथम संस्करण 1955

8. जीवानन्दनम्[29] मुद्रक टाइमटेबुल प्रेस बनारस, सितम्बर, 1955 ई0

9. मुनिचतुर्विजयम् गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा 1918 ई0

10. मिथ्याज्ञान विडम्बनम्- हरिश्चन्द्र, कविरत्न द्वारा विद्यारत्न यं, कलकत्ता में मुद्रित, सन् 1894 ई0

11. ज्ञानसूर्योदयम्- प्रकाशित, गवर्नमेण्ट प्रेस- नागपुर 1926 ई0

12. यतिराजविजयनाटकम्- तिरूमाला- तिरूपति देवस्थानम्- तिरूपति 1956 ई0

13. चित्तवृत्तिकल्याणम्- सम्पादक मुनि चतुर्विजय जी, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा

14. जीवन्मुक्तिकल्याणम् श्रीरङ्गम् श्री वाणीविलास प्रेस 1944 ई0

15. धर्मविजयनाटकम्- विद्याविलास प्रेस, गोपाल मंदिर लेन, बनारस सिटी, 1930 ई0

---

28 (क) निर्णय सागर प्रेस, 1897
(ख) (आचार्य रामचन्द्र मिश्र कृत हिन्दी व्याख्या) प्रकाशित- चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-1

29 अड्यार से 1947 में प्रकाशित, मद्रास

16. जीवसञ्जीवनीनाटकम् बंग्लौर विश्वविद्यालय सुब्बयय् एण्ड सन्स मुद्राक्षरशाला मुद्रित 1945 ई0

पाण्डुलिपि के रूप में समुपलब्ध होने वाले अप्रकाशित नाटक निम्नलिखित हैं-

1. खण्डित प्रति अश्वघोषकृत
2. मुक्तिपरिणय[30]
3. प्रचण्डदार ह्वादयम्[31]
4. भावनापुरूषोत्तम[32]
5. विवेकविजयनाटकम्[33]
6. सिद्धान्तभेरीनाटक[34]
7. मिथ्याज्ञानखण्डन[35]
8. भक्तिवैभव नाटक[36]
9. प्रबोधोदय नाटक[37]
10. स्वानुभूति नाटक[38]
11. सत्सङ्ग विजय नाटक[39]

---

30 तन्जौर न्यू कैटलॉग 4460 एन0डब्लू0 प्राविन्सज कैटलॉग पृ0 46

31 तन्जौर न्यू कैटलॉग 4388

32 Theodor Aufretch Cat. Vol. 1 P. 407. Burnell's, 170, Oppert 3439, Tanjore, New Cat. Nos. 4427-4429.

33 MDSC 12683-4 Adyar H, p. 30 b,

34 Catalogue of Sans. Manuscripts in Mysore and Coorge P. 286.

35 10. 4200 Bombay Branch RAS 1289-90 and many cats.

36 Triennial cats of the Madras Govt. Ori. M SS Library 3752

37 Mm. Harprasad Sastry, Notices, 11 series, Vol. III, No. 190. p. 122-24.

38 Ms. dated sam. 1705 by Anantapandita, S.R. Bhandarkar II Jour Report of MSS. in Raj. and Centr. India, 1904-6, p. 9.

39 Cat. of SKT MSS in private Lib of Guj., Kath, Kacch., Sind and Khandes. By Buhler (II), P. 124, No. 54.

12. शिवनारायन भाण्जामहोदय नाटिका[40]

13. पूर्णपुरूषार्थचन्द्रोदय [41]

14. पाषण्ड धर्मखण्डन[42]

15. भर्तृहरिराज्यत्यागनाटक[43]

16. विवेक चन्द्रोदयनाटिका[44]

17. तत्त्वमुद्राभद्रोदय[45]

18. षण्मात नाटकम्[46]

19. धर्मोदय नाटक[47]

20. चित्सूर्यालोक[48]

निम्नलिखित प्रतीक नाटकों की केवल नाममात्र के लिए सूचना प्राप्त होती है-

1. ज्ञानमुद्रा

2. विजयरञ्जन नाटकम्

3. शुद्धसत्त्वम्

4. शिवलिङ्गसूर्योदय

---

40 The Asiatic Society Bengal. 1901 p. 18 and Mn Harprasad Sastry, Report on search for skr. MSS. 1805-1900

41 MDSC. 12540-1, MDSC. 14602

42 Br. Mu. Prt. Bks. Cat. 1906-28, Column 234.

43 Printed Books Catalogue. 1892-1906, column 315.

44 S.R. Bhandarkar, Deccan Coll. Cat. P. 43. No. 31

45 Dr. M. Krsnamacharya, Skr. Poetesses, pp. 62-63 Souvenir of the silur Jubilee of the Trivandram Skr. Series.

46 Peterson's Report, V.P. 262, No. 407.

47 Jour of the Assam Res. Society, III 4, p. 119.

48 Vijianagaram, 1894, Printed Books cat. Column 315.

5. सौभाग्यमहोदयनाटकम्

6. ज्ञानचन्द्रोदय

7. मायाविजय

8. शिवभक्तनन्दनाटकम्

9. विद्वन्मनोरञ्जनी

अश्वघोषकृत प्रथम प्रतीक नाटक :

अश्वघोषकृत प्रथम प्रतीक नाटक का एक पृष्ठ प्राप्त होता है। प्राप्त हुई प्रति इतनी गल गई थी कि उसको ठीक प्रकार से पढ़ नहीं सकते लेकिन जोड़-जोड़ कर उनको किसी प्रकार से पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि इनमें तीन पात्र-धृति, कीर्ति एवं बद्धि पाये जाते हैं। इससे अनुमान निकलता है कि यही प्रथम प्रतीक नाटक रहा होगा। इसके कथानक रस, अङ्क आदि का पूर्ण रूप से पता नहीं चलता लेकिन इतनी जानकारी अवश्य मिलती है कि यह भगवान बुद्ध के जीवन चरित से सम्बन्धित नाटक ही रहा होगा।

प्रतीक नाटकः विकास परम्परा का विच्छेद :

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से चिंतन करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्रकार की काव्य रचना की विकास परम्परा में थोड़ा सा क्रम भङ्ग सभी स्थानों में है लेकिन यहां जो एक लम्बा अंतराल उपलब्ध होता है वह अवश्य विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। अश्वघोष का काल प्रथम शताब्दी ईस्वी माना जाता है। इसके बाद कई शताब्दियों तक कोई प्रतीक नाटक नहीं मिलता। बाद में 11वीं शताब्दी के मध्य में श्रीकृष्ण मिश्र प्रणीत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मिलता है। अब प्रश्न यह उठता है कि पहली शताब्दी एवं 11वीं

शताब्दी के मध्य कोई प्रतीक नाटक क्यों नहीं लिखा गया? जबकि यह विदित है कि साहित्य विधा जब एक बार जन्म लेती है तो फिर उसके सदृश उसी विधा में कई-कई रचनाएं लिखी जाती हैं फिर भी प्रश्न उठता है कि एक बार अश्वघोष द्वारा प्रणीत प्रतीक नाटक के जन्म होने के पश्चात् उसके सदृश हजारों वर्ष तक कोई दूसरा प्रतीक नाटक क्यों नहीं लिखा गया?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पहली एवं 11वीं शताब्दी के मध्य भारत में अनेक राजाओं ने राज्य किया। सभी राजाओं की अपनी-अपनी अलग-अलग राजनैतिक स्थिति थी, उनका अपना-अपना राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्तर था। इस काल में भारत वर्ष में कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। प्रसिद्ध गुप्त साम्राज्य, राजा हर्ष एवं बिम्बसार इसी काल खण्ड में उत्पन्न हुए थे।

गुप्त साम्राज्य उस समय कला एवं संस्कृति का प्रभावशाली केन्द्र था। गुप्तकाल की मूर्तियां अपने आप में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। तत्कालिक गुप्त साम्राज्य के दरबार में बड़े-बड़े कवि एवं साहित्यकार रहते थे। विशाखदत्त, शूद्रक इत्यादि की उपस्थिति से इस बात की पुष्टि होती है। हर्ष के काल में बाणभट्ट, यशोवर्मा के काल में महाकवि भवभूति एवं माघ जैसे कवि इन्हीं दस शताब्दियों के मध्य उत्पन्न हुए थे। अब प्रश्न यह उठता है कि इतने महान कवियों एवं नाटककारों के रहते हुए संस्कृत भाषा-साहित्य में प्रतीक नाटकों की रचना क्यों नहीं हुई? वस्तुतः नाटकों में कदाचित् वैदिक अनुयायी कवियों एवं लेखकों ने इसे बौद्ध प्रक्रिया जानकर अपनी कलाकृतियों में अस्वीकृत कर दिया हो। बाद में पुनरूज्जीवित हुई इस शैली से यह स्पष्ट

होता है कि इस साहित्यिक विधा का विनियोग जटिल दार्शनिक तत्त्वों के प्रचार के लिए किया गया है। इस बीच की दस शताब्दियों में कवियों एवं लेखकों का यह उद्द्देश्य ही न रहा हो कि दार्शनिक तत्त्वों का काव्य माध्यम से प्रकाशन किया जाय। इस बात की सम्भावना अधिक है कि यह रचना अश्वघोष के द्वारा लब्धजन्म होकर भी अपनी गौण साहित्यिकता के कारण संस्कृत विद्वानों में प्रसिद्धि न पाई हो और एक प्रकार से यह विधा अज्ञात रही हो। अतः इस शैली में अन्य कृतियों की रचना ही न हुई हो। या तो यह हो सकता है कि यह शैली ज्ञात होने पर भी लेखकों या कवियों के मध्य रूचिहीन हो इसलिए इस शैली में श्रीकृष्ण मिश्र के पहले तक किसी रचना का प्रणयन ही न हुआ हो। इस एक हजार वर्ष में लिखे गए अनेक नाटक लुप्त हैं। जब तक वे नाटक उपलब्ध नहीं हो जाते तब तक प्रतीक नाट्य परम्परा के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय - अध्याय

प्रबोधचन्द्रोदयकार एवं प्रबोधचन्द्रोदय

द्वितीय अध्याय : प्रबोधचन्द्रोदयकार एवं प्रबोधचन्द्रोदय

प्रबोधचन्द्रोदयकार श्रीकृष्ण मिश्र

काल – श्रीकृष्ण मिश्र ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' की प्रस्तावना में गोपाल, कीर्ति वर्मा और कर्णराज का स्मरण किया है उसी से इनके काल के विनिश्चय में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

श्रीकृष्ण मिश्र का देश– श्रीकृष्ण मिश्र ने कहीं अपने निवास देश के विषय में उल्लेख नहीं किया है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में गौडों की दाम्भिकता का उपहास जिस सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण मिश्र गौडों से अत्यन्त निकट का परिचय रखते थे। षष्ठ अङ्क में बिहार प्रान्त के मन्दार गिरि पर स्थित मधुसूदन मन्दिर का सादर उल्लेख किया गया है। अतः इस बात की दृढ़ संभावना की जाती है कि श्रीकृष्ण मिश्र बिहार के ही रहने वाले थे।

विषयवस्तु (प्रबोधचन्द्रोदयम्)

प्रथम अङ्क :

पहले अङ्क में मन की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति नामक दो पत्नियों से उत्पन्न मोह एवं विवेक नामक दोनों पुत्रों में आपस में विरोध हो जाता है। मोह के पक्ष में काम, क्रोध, हिंसा आदि हैं तथा विवेक की तरफ क्षमा, संतोष, शान्ति एवं श्रद्धा इत्यादि हैं। काम एवं रति दोनों रङ्गमञ्च पर प्रवेश करते हैं और दोनों का आपस में वार्तालाप होता है। काम से रति कहती है कि विवेक जो उसका प्रतिपक्षी है, उसके लिये समस्या बन गया है। इसके जवाब में काम

रति से कहता है कि स्त्री होने के कारण तुम डर रही हो। मेरे समक्ष विवेक की क्या स्थिति है? काम को पूर्णतया विश्वास है कि उसकी विजय सुनिश्चित है लेकिन उसको उसकी भविष्यवाणी से खतरा है जिसके द्वारा विवेक एवं उपनिषद् के सम्पर्क से विद्या की उत्पत्ति होगी। लेकिन काम रति को आश्वासन देते हुए यह भी कहता है कि विद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपनिषद् एवं विवेक एक-दूसरे से वियुक्त हैं। फिर भी रति के यह पूछने पर कि विद्या उत्पन्न होने पर विवेक का संहार कर देगी? इस पर काम का उत्तर नकारात्मक नहीं रहा। उधर विवेक अपनी पत्नी मति से कहता है कि प्रिये! देखा तुमने! यह काम अपने को पुण्यात्मा कहता है और हम लोगों को पापी कहता है जबकि नित्य शुद्ध बुद्ध परमात्मा को बन्धन में रखने के कारण खुद आप पापी हैं। इस पर मति विवेक से यह पूछती है कि जो सच्चिदानन्द पुरुष है वह किस प्रकार इन लोगों से आबद्ध हो जाता है। विवेक ने बताया कि चालाक व्यक्ति भी स्त्रियों द्वारा ठग लिया जाता है। पुरुष भी माया के द्वारा बन्धन में ग्रस्त हो जाता है फिर विवेक से मति प्रश्न करती है कि आखिर पुरुष का उद्धार कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के जबाव में विवेक कहता है कि उपनिषद् के साथ उसका सम्बन्ध होने पर प्रबोध की उत्पत्ति होगी और उपनिषद् शान्ति के मनाने एवं तुम्हारे द्वारा ईर्ष्यारहित होने पर ही मुझसे मिल सकती है।

द्वितीय अङ्क :

द्वितीय अङ्क में रङ्गमञ्च पर दम्भ का प्रवेश होता है और वह

कहता है कि महाराज मोह ने आदेश दिया है कि तुम लोग इस प्रकार प्रयास करो जिससे हमारा कुल नष्ट न हो क्योंकि विवेक ने 'प्रबोधोदय' की प्रतिज्ञा कर रखी है और प्रबोध की उत्पत्ति होने पर हमारा नाश निश्चित हो जायेगा। इसलिये मैं पृथ्वी के सबसे बड़े पवित्र स्थान पर अधिकार करता हूँ। अहङ्कार (दम्भ का पिता) भी काशी पहुँचता है और वहाँ के सभी लोगों को मूर्ख कहता है। अहङ्कार के सभी सम्बन्धी यहाँ ही मिल जाते हैं, वह सम्बन्धियों से मिलकर खुश हो जाता है। अहङ्कार ने कुशल समाचार पूछते हुए मोह के ऊपर विवेक के द्वारा उपस्थित भय के बारे में पूछा। दम्भ ने स्पष्ट किया कि महाराज मोह इन्द्रलोक से काशी को ही राजधानी बनाकर आ रहे हैं। अहङ्कार के पूछने पर भी कि काशी को ही राजधानी बनाना क्यों चाहा? दम्भ ने स्पष्ट किया कि विवेक को रोकने के लिए ऐसा किया गया है। चार्वाक् महामोह की सहायता करता है। वह एक अशुभ समाचार लाता है कि धर्म ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया है। कलि के द्वारा प्रचार के रोक दिये जाने पर, विष्णु भक्ति नामक योगिनी का प्रभाव इतना बढ़ गया कि उसकी तरफ कोई देख भी नहीं सकता। इसी समय मद एवं मान का पत्र लेकर एक पुरुष आता है और यह समाचार देता है कि उपनिषद् विवेक से फिर मिल जाने को सोचती है और शान्ति अपनी माता श्रद्धा के साथ इन दोनों का मेल कराने का प्रयास कर रही है। महामोह श्रद्धा को जेल भिजवा देता है और मिथ्यादृष्टि को आज्ञा देता है कि श्रद्धा एवं उपनिषद् एक न होने पावें।

तृतीय अङ्क :

तृतीय अङ्क में शान्ति तथा उसकी सहेली करूणा का प्रवेश होता है। शान्ति अपनी माता श्रद्धा के वियोग में रोती है एवम् शोकग्रस्त है। करूणा उसे सांत्वना देती है कि सात्विकी श्रद्धा की दुर्गति कभी नहीं हो सकती। वह दिगम्बर जैन धर्म, बौद्ध धर्म तथा सोम सिद्धान्त में श्रद्धा को खोजती है लेकिन वहाँ तामसी श्रद्धा का दर्शन होता है। वहाँ पर शान्ति उसके भयावने रूप में अपनी माँ को नहीं देखती। बौद्ध मत एवं जैन मत के अनुयायी आपस में संघर्ष करते हैं। सोम सिद्धान्त आता है उसने मदिरा एवं नारी के प्रलोभन से इन दोनों को आकर्षित किया। कापालिकी का वेष धारण करने वाली श्रद्धा ने उन दोनों का आलिङ्गन करके उन्हें मदिरा पिलायी। नाम, साम्य से शन्ति को यह सन्देह हुआ कि यह हमारी माता तो नहीं हैं किन्तु उसकी सहेली करूणा ने यह बताया कि तुम्हारी माता श्रद्धा विष्णु भक्ति के पास है। तब उसको सन्तोष हुआ। क्षपणक के यह पूछने पर कि श्रद्धा विष्णु भक्ति के पास महात्माओं के हृदय में है। तब कापालिकी ने धर्म एवं श्रद्धा को अपनी महाभैरवी विद्या से अपनी ओर आकर्षित करना चाहा।

चतुर्थ अङ्क

चतुर्थ अङ्क में मैत्री का प्रवेश होता है। मैत्री, श्रद्धा से कहती है कि मुदिता के द्वारा सुना है कि विष्णु भक्ति ने तुम्हें महाभैरवी के चङ्गुल से बचा रखा है। श्रद्धा भी महाभैरवी वाली सारी घटना बताती है। मैत्री ने भी कहा कि हम चारों बहनें विवेक की सफलता के लिये महात्माओं के हृदय में रहती

हैं। मैत्री ने पुनः श्रद्धा से कहा कि तुम जाओ, विवेक से कहो कि काम, क्रोध एवं मोह को विजित करने का प्रयास करें। विवेक, वस्तु विचार, क्षमा एवं सन्तोष को बुलाकर क्रमशः काम, क्रोध एवं लोभ पर विजय प्राप्त करने के लिये कहता है, वे सभी सहचर ऐसा करने के लिये तैयार रहते हैं।

पञ्चम अङ्क

पांचवें अङ्क में महामोह के कुल के नाश हो जाने के बाद श्रद्धा इस निर्णय पर पहुँचती है कि आपसी वैर कुल को नष्ट करने का कारण बनता है। इस अङ्क में युद्ध की समाप्ति हो गयी है। मोह के सभी सैनिक मर चुके हैं किन्तु मन अपने पुत्रों की वृत्ति से ग्रस्त है। मन को सान्त्वना एवं वैराग्य की उत्पत्ति हेतु विष्णु भक्ति ने वैय्यासिकी सरस्वती को भेजा है। सरस्वती अनित्य संसार को दिखाकर मन में वैराग्य की उत्पत्ति कराती है। सच्चिदानन्द में तल्लीन होकर शान्त भाव से रहने का पाठ पढ़ाती है। मन भी निवृत्त रूप अपनी दूसरी पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम में शेष दिन व्यतीत करने का फैसला करता है।

षष्ठ अङ्क

छठें अङ्क में शान्ति ने श्रद्धा से राजकुल का समाचार पूछा। इस पर श्रद्धा ने यह बताया कि मन का माया से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। अब निवृत्तिमात्र उसकी पत्नी, वैराग्य उसका पुत्र, शम, दम आदि सहपाठी हैं। महामोह ने अब भी मन को आकर्षित करने के लिये मधुमती को भेजा है। माया भी इस कार्य में सहायता करती है। लेकिन तर्क ने इस पाश से मन

को बचाया है। अब पुरूष ने उपनिषद् से मिलना चाहा लेकिन उपनिषद् 'मान' कर बैठी है। इस प्रकार की स्थिति में शान्ति उपनिषद् को पुरूष की विवशता समझाती है। इसके पश्चात् उपनिषद् ने अपने पूर्वानुभूत जीवन का सम्पूर्ण शान्ति से सुनाया। इसी बीच निदिध्यासन प्रकट हुआ। उसने पुरूष को प्रबोध एवं विद्या की उत्पत्ति को बताया। विवेक के साथ उपनिषद् विष्णु भक्ति के पास चली गयी। प्रबोधोदय होने से समस्त अज्ञान एवं अन्धकार समाप्त हो गया। इस प्रकार पुरूष को मोक्ष मिल गया।

रचनाकाल (प्रबोधचन्द्रोदयम्)

प्रतीक नाटक की परम्परा अश्वघोष से प्रारम्भ होकर श्रीकृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदयम् नाट्य ग्रन्थ तक आती है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की प्रस्तावना में श्रीकृष्ण मिश्र ने उस राजा का वर्णन किया है, जिसकी सभा में नाटक का अभिनय किया गया था। इसके आधार पर लेखक का समय हम आसानी से जान सकते हैं। राजा कीर्ति वर्मा का, उसके सहायक गोपाल का एवं उसके शत्रु चेदिपति कर्ण का इसमें उल्लेख मिलता है। इसमें वर्णन किया गया है कि कीर्ति वर्मा का राज्य राजा कर्ण द्वारा छीन लिया गया था। उसे ही गोपाल ने अपने पराक्रम से जीता एवं कीर्तिवर्मा को फिर राजा के पद पर अभिषिक्त किया। 'येन भूयोऽभ्यषेचि'[1] के 'भूयः' पद से कीर्ति वर्मा के पुनः अभिषिक्त होने की एवम् 'अभ्यषेचि' इस भूतकालीन क्रिया से नाटक निर्माण के पूर्व ही उसके अभिषेक का ज्ञान होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कीर्ति वर्मा के नये राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में ही गोपाल की आज्ञा से इस नाटक का प्रणयन

[1] प्रबोधचन्द्रोदय - अङ्क 1, पृष्ठ 8

एवम् अभिनय हुआ होगा।[2] प्रबोधचन्द्रोदय में एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि गोपाल ने 1042 ईस्वी में चेदिराजा कर्ण द्वारा पराजित कीर्ति वर्मा को उसका राज्य लौटा दिया था। इस तरह कीर्ति वर्मा के शत्रु कर्ण के राज्य का प्रारम्भ काल 1042 ई0, विजयकाल 1042 से 1059 ई0 एवं पराजय काल 1060 से 1064 ई0 तथा राज्यवसान काल 1072 से लेकर 1073 ई0 तक था। शत्रु कर्ण के राज्य के इस प्रामाणिक विवरण के आधार पर कीर्ति वर्मा के राज्यकाल का प्रारम्भ 1050 ई0 माना जा सकता है। 1090 एवम् 1098 के उपलब्ध शिलालेखों द्वारा कीर्ति वर्मा के राज्यारोहण की अन्तिम सीमा 1100 ई0 सिद्ध होती है।[3]

इस तरह कीर्ति वर्मा को अपने राज्यकाल (1050-1100 ई0) में 1065 ई0 में विजय प्राप्त हुई होगी और इस विजय के उपलक्ष्य में प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का अभिनय हुआ होगा। इसी अभिनय काल से प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के रचयिता श्रीकृष्ण मिश्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य सिद्ध होता है।

---

[2] आदिष्टोऽस्मि सकलसामन्त चक्र चूड़ामणि .... श्रीमतागोपालेन। - प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 1, पृष्ठ 4-5

[3] (क) एनुअल रिपोर्ट ऑफ द आर्कियोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ0 93 कालिन्जर के नीलकण्ठ मन्दिर में उत्कीर्ण 20 पंक्तियों का एक शिलालेख प्राप्त होता है जिसमें एक से लेकर सात पंक्तियों तक कीर्ति वर्मा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, यह शिलालेख 1090 ई0 का है।

(ख) कीर्ति वर्मा से सम्बन्धित एक दूसरा शिलालेख देवगढ़ में प्राप्त हुआ है जिसका काल 1098 ई0 है। इसकी सूचना इण्डियन एन्टीक्वेरी वाल्यूम XVIII पृष्ठ 238 से प्राप्त हुई।

तृतीय - अध्याय

सङ्कल्पसूर्योदयकार एवं सङ्कल्पसूर्योदय

तृतीय अध्याय – सङ्कल्पसूर्योदयकार एवं सङ्कल्पसूर्योदय

जीवनवृत्त

बहि:साक्ष्यों द्वारा श्री वेदान्तदेशिक के जीवन पर प्रकाश डालने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि उनके काव्यों में उपलब्ध संकेतों के आधार पर उनका परिचय प्राप्त किया जाय। ये ग्रन्थ श्री वेदान्तदेशिक की स्वरचित रचनाएँ हैं, अत: प्रामाणिकता की दृष्टि से इन्हें महत्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक है।

संकल्पसूर्योदय के अनुसार वेदान्तदेशिक का जन्म विश्वामित्र गोत्र के ब्राहमण परिवार में हुआ था।[1] उन्होंने इस वंश में जन्म प्राप्त करने का उल्लेख बड़े गर्व के साथ किया है,[2] क्योंकि विश्वामित्र ही सावित्री (गायत्री) मन्त्र के द्रष्टा हैं।[3] उनसे ही सावित्री का प्रादुर्भाव हुआ है अत: सावित्री उनकी अनन्यगोत्रा सिद्ध होती है।[4] उनके पितामह का नाम पुण्डरीकाक्ष था। पुण्डरीकाक्ष श्री सोमयज्ञ के विशिष्ट सम्पादक के रूप में प्रसिद्ध थे।[5] पुण्डरीकाक्ष के पिता श्री अनन्त सूरि (अनन्ताचार्य) थे, जिन्हें वेदान्तदेशिक ने गुणों का भण्डार कहा है।[6] वेदान्तदेशिक ने स्वयं अपने को 'विष्णुघण्टावतार' कहा है।[7]

---

1 सं. सू. 1/12 पूर्व गद्य
2 सं. सू. 1/13 पूर्व गद्य
3 सावित्रया ऋषिविश्वामित्र: विनियोग गायत्री मन्त्र
4 सं. सू. 1/13 पूर्व गद्य
5 सं. सू. 1/12 पूर्व गद्य
6 सं. सू. 1/12 पूर्व गद्य
7 सं.सू. 1/14 घण्टा हरे: समजनिष्टपदात्मनोति।

वेदान्तदेशिक प्रणीत ग्रन्थों के आधार पर उनका जन्म भाद्र पद शुक्ल दशमी (आश्विन विजयादशमी) कलि संवत् 4369 शकाब्द 1190 या 1268 ई0 में कांची (कांजीवरम) में हुआ था। इसी तिथि को सभी ने माना है। साक्ष्यों के आधार पर इस तिथि की प्रामाणिकता भी सिद्ध है। उनकी माता का नाम 'तोतारम्मा' या 'तोताद्रयम्बा' था। तोतारम्मा विशिष्टाद्वैत के विद्वान् ऐतरेय रामानुजाचार्य की भगिनी तथा पद्मनाभाचार्य की पुत्री थी। इस प्रकार वेदान्तदेशिक का जन्म जिस कुल में हुआ था वह कुल विशिष्टाद्वैत दर्शन के लिये प्रख्यात था। वेदान्तदेशिक के जन्म के विषय में एक कथा प्रचलित है कि उनके पिता ने एक रात स्वप्न देखा कि तिरूपति देवस्थानम् के देव श्री वेंकटेश्वर ने उन्हें पत्नी के साथ तिरूपति जाकर उपासना करने का आदेश दिया है। पति-पत्नी दोनों तिरूपति गये। तिरूपति में वेदान्तदेशिक की माता ने स्वप्न देखा कि भगवान वेंकटेश्वर के रूप में एक बालक ने उन्हें एक घण्टा प्रदान किया और पुत्र रूप में अवतरित होने का वरदान दिया। उनकी माता ने तेजोरूप में उसे अपने गर्भ में प्रवेश करते हुए देखा। दूसरे दिन प्रातः काल तिरूपति के श्री वेंकटेश्वर मन्दिर में घण्टा नहीं था। वेदान्तदेशिक के माता-पिता द्वारा स्वप्न का वर्णन करने पर तथा प्रधान पुजारी को भी भगवत्कृपा से इस बात के ज्ञात होने से अन्य पुजारियों या यात्रियों पर चोरी का सन्देह नहीं किया गया। श्री वेंकटेश्वर देवस्थानम् तिरूपति में आज भी घण्टे का न होना इस वृत्तान्त का संकेत करता है। तिरूपति से वापस आने के बाद इनकी माता बारह वर्ष तक गर्भधारण किये रही। उसके बाद

वेदान्तदेशिक का जन्म हुआ। भगवान वेंकटेश्वर की कृपा समझकर माता-पिता ने इनका नाम 'वेंकटनाथ' रखा।[8] इसके बाद इन्होंने 'वेदान्ताचार्य' और वेदान्तदेशिक के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। इस कथा की सत्यता के विषय में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु स्वयं वेदान्तदेशिक तथा आचार्य परम्परा द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने के कारण इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

वेदान्तदेशिक के साथ "होनहार विरवान के होत चीकनेपात" अक्षरशः लागू होता है। उनकी असाधारण प्रतिभा का दर्शन बाल्यकाल से ही होने लगा था। उनके बचपन की एक घटना से इस पर अधिक प्रकाश पड़ता है। वेदान्तदेशिक जब 6 वर्ष के ही थे तो एक बार अपने मामा आत्रेय रामानुजाचार्य जी के साथ एक सभा में गये। इस सभा में बड़े-बड़े विद्वान् विराजमान थे। वहाँ वात्स्य वरदाचार्य या नडादूर् अम्माल का रामानुज दर्शन पर प्रवचन चल रहा था। वेदान्तदेशिक के पहुँचते ही सभी का ध्यान इनकी ओर (अल्पावस्था होने के कारण) आकृष्ट हो गया। प्रवचन का क्रम भंग हो गया। फिर प्रवचन प्रारम्भ करने के लिए यह सोचने पर कि किस स्थल पर प्रवचन हो रहा था न तो प्रवचनकर्ता स्मरण कर सके और न विद्वान् श्रोतागण ही स्मरण करा सके। बालक वेदान्तदेशिक ने उस स्थल का निर्देश कर दिया। इस पर प्रसन्न होकर श्री वात्स्यवरदाचार्य ने वत्स,

प्रतिष्ठापित वेदान्तः प्रतिक्षिप्तबहिर्मतः।
भूयास्त्रै विद्यमान्यस्त्वं भूरिकल्याण भाजनम्।।

---

8 वेदान्ताचार्य जननी वरपुत्राभिलाषिणी। स्वप्ने श्री वेंकटेर्शन दत्तां घण्टा निगीर्यसा।।
दधार गर्भमतुलं द्वादशाब्दं पतिव्रता। ततो जज्ञे गुरूपंय वेदान्ताचार्या शेखरः।।
ऐतिह्य सं. सू. 1/14 प्रभावली

इत्यादि कहकर मङ्गलाशासन किया। इस वृत्तान्त को वेदान्तदेशिक ने सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में शिष्य के प्रति गुरू के आशीर्वाद के रूप में व्यक्त किया है।[9]

वेदान्तदेशिक विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। इसे देखकर उनके मामा रामानुजाचार्य ने इन्हें अन्य विषयों के साथ-साथ रामानुज दर्शन के गूढ़ तत्वों से भी परिचित कराया। वेदान्तदेशिक 20 वर्ष की अवस्था तक अध्ययनरत रहे। इस काल में उन्होंने अनेक प्रकार के विषयों का अध्ययन किया। इसका वर्णन वेदान्तदेशिक ने स्वयं किया है।[10] उन्होंने पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा आदि का पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन किया था।[11] सभाओं में उन्होंने कई बार चार्वाक्, बौद्धादि मतावलम्बियों को मात दिया था।[12] अपनी प्रतिभा के विषय में उन्होंने लिखा है कि गुरूकृपा से एक बार जो सुन लेते थे, वह जीवनभर विस्मृत नहीं होता था। कोई उन पर कितना भी तर्क-वितर्क करके दोष स्थापित करने का प्रयत्न करे पर पलक झपकते ही उसे समाप्त कर देते थे।[13] रामानुज दर्शन का प्रचार उन्होंने जीवन पर्यन्त किया। सङ्कल्पसूर्योदय की रचना करने के पहले वे तीस बार श्रीभाष्य का अध्ययन कर चुके थे।[14]

श्री वेदान्तदेशिक के समावर्तन संस्कार के अनन्तर छठवें वर्ष में उनके मामा एवं शिक्षक श्री आत्रेय रामानुजाचार्य का स्वर्गवास हो गया। कुछ दिन

---

9 सं.सू. 2/15

10 विंशत्यव्देविश्रुत नानाविधविद्यः - सं.सू. 1/15

11 सं. सू. 2/50

12 सं. सू. 2/45

13 सं.सू. 2/19

14 त्रिशद्वारं भवितशारीरकभाष्यः - सं.सू. 1/15

तक वेदान्तदेशिक काञ्ची में ही श्रीभाष्यादि शास्त्रों का अध्ययन किये। पुनः गारूड मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए वेदान्तदेशिक काञ्ची से अहीन्द्रपुर नामक स्थान पर चले गये। गारूडमन्त्र के निरन्तर जप से प्रसन्न होकर गरूड द्वारा हयग्रीव मन्त्र का उपदेश किये जाने पर वे हयग्रीव मन्त्र के अनुसन्धान में लग गये। गरूड द्वारा प्रदत्त हयग्रीव भगवान की अर्चामूर्ति की अर्चना करते हुये उन्होंने कुछ समय व्यतीत किया। एक दिन प्रसन्न हयवदन ने उन्हें प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का खण्डन करने में समर्थ सकल शास्त्रों में पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ सभाओं में विजयशील पराक्रम प्रदान करके अनुग्रहीत किया। ऐसा प्रख्यात है। इसी समय वेदान्तदेशिक ने 'देवनायक पञ्चाशत्', 'गोपालविंशति' तथा कुछ द्रविड प्रबन्धों की रचना की। अहीन्द्रपुर से काञ्ची आते समय मार्ग में 'देहलीश स्तुति' एवं 'सच्चरित्र रक्षा' की रचना की। काञ्ची पहुँचकर वे वेदान्त के प्रवचन में रत हो गये। कई वर्षो तक वे काञ्ची में ही निवास करते रहे। इसी दौरान वेदान्तदेशिक ने 'वरदराज पञ्चाशत्' तथा अन्य अनेक संस्कृत द्रविड प्रबन्धों की रचना की।

अध्ययन के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। परम्परा से पता चलता है कि उन्होंने तिरूमंगलै नामक स्त्री से विवाह किया। उनका गृहस्थाश्रम बड़ा ही सुखमय था। अड़तालीस वर्ष की अवस्था में कलिसंवत् 4417 के श्रावण मास में रोहिणी नक्षत्र (भाद्रपद कृष्णाष्टमी) सन् 1316 ई0 में इनके पुत्र वरदनाथ या वेदान्ताचार्य का जन्म हुआ।

वेदान्तदेशिक उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा पर निकल पड़ते है। जहाँ सर्वप्रथम वे वेंकटाद्रि (तिरूपति) आये। यहाँ पहुँचकर उन्होंने 'दयाशतक' की रचना करके श्रीनिवास भगवान् की सेवा की। तिरूपति एवं वहाँ के

वातावरण ने उनको बहुत आकर्षित किया। वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थ 'सङ्कल्पसूर्योदय' तथा 'हन्स सन्देश' में उत्तर भारत के अनेक स्थानों का विवरण दिया है। उन्होंने वाराणसी को अवैदिक यवनतुरूष्काद्य भिन्न जातीयदेशधिपति संनिधानलुप्तशोकाचार[15] आदि कहा है। उन्होंने नेपाल, मथुरा, अवन्ती, द्वारिका आदि अनेक उत्तर भारतीय नगरों का वर्णन इन ग्रन्थों में किया है। अनेक नगरों का वर्णन जहाँ उनके भौगोलिक ज्ञान के विषय में सूचित करता है, वहीं उनकी सामाजिक एवं भौगोलिक स्थिति का वर्णन वेदान्तदेशिक के आवागमन को भी पुष्ट करता है।[16] वेदान्तदेशिक ने बदरिकाश्रम[17] का वर्णन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने समस्त उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा की थी। उन्होंने नेपाल[18] ओर हिमालय[19] का भी वर्णन अत्यन्त ही रोचक ढंग से किया है।

वेदान्तदेशिक ने दक्षिण भारत की भी यात्रा की जहाँ उन्होंने दक्षिण के अनेक तीर्थो का भ्रमण किया। अहीन्द्रपुर, तिरूपति और श्रीरङ्गम में उन्होंने निवास ही किया था। काञ्ची उनकी जन्मस्थली और कर्मस्थली रही है। इसके अतिरिक्त यादवाचल:[20], मलय[21] ताम्रपर्णी[22], पाण्ड्य[23], वेंकटाद्रि[24] वृषाचल[25] आदि

---

15 सं. सू. पृष्ठ 564
16 सं. सू. पृष्ठ 557
17 सं.सू. पृष्ठ 1089
18 सं. सू. पृष्ठ 624
19 सं. सू. पृष्ठ 612
20 सं. सू. पृष्ठ 573
21 सं. सू. पृष्ठ 579
22 सं. सू. पृष्ठ 660
23 सं. सू. पृष्ठ 582
24 सं. सू. पृष्ठ 598
25 सं. सू. पृष्ठ 663

का वर्णन किया है। निश्चय ही, श्री वेदान्तदेशिक इन स्थानों में जाने के बाद ही स्वाभाविक एवं मनोहारी वर्णन करने में समर्थ हुए हैं।

वेदान्तदेशिक ने समस्त भारत की यात्रा करने के उपरान्त काञ्ची में निवास किया। इसी समय इनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। जिसका नाम वरदनाथ था। उन्होंने अपने पुत्र को वेदादि की शिक्षा दी।

कुछ समय के बाद कुछ अद्वैतवादी विद्धानों ने श्रीरङ्गम पहुँचकर विशिष्टाद्वैत पर प्रश्न किया, वहाँ के उपस्थित विद्धान् इन प्रश्नों का उत्तर न दे सके। वेदान्त के क्षेत्र में प्रख्यात श्री वेदान्तदेशिक को काञ्ची के पण्डितों ने बुलाया। उन्होंने श्रीरङ्गम पहुँचकर न केवल उनके प्रश्नों का समाधान किया अपितु उनके सिद्धान्तों पर सौ आक्षेप लगाया जो 'शतदूषणी' नामक ग्रन्थ के रूप में वर्णित है।

इसके अनन्तर श्री वेदान्तदेशिक ने पुनः श्रीभाष्य के अध्यापन एवं विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रचार-प्रसार में अपने को लगाया। उन्होंने संस्कृत, तमिल एवं मणिप्रवाल शैली में अनेक ग्रन्थों की रचना की। विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के आचार्य के रूप में उनकी कीर्ति चारों तरफ फैल गयी।

ऐतिहासिक रूप से विदित है कि दुष्टजन हमेशा से सज्जनों को बिना कारण परेशान करते रहे हैं। वेदान्तदेशिक भी उन दुष्टजनों से अछूते न रह सके। उनसे ईर्ष्या रखने वाले अनेक तरह से उन्हें अपमानित करने का प्रयत्न किये, पर भगवान की दया से सब निष्फल होते गये। लक्ष्मणाचार्य के अनुयायियों ने उन्हें श्रीरङ्गम छोड़ने के लिये बाध्य किया। इस कारण वेदान्तदेशिक श्रीरङ्गम छोड़कर थोड़ी दूर सत्याकाल (सत्यमङ्गलम्) नामक ग्राम में रहने लगे। बाद में ईर्ष्यालुओं को अपने किये पर पश्चाताप हुआ। उनके

आग्रहपूर्वक कहने पर वेदान्तदेशिक पुनः आकर श्रीरङ्गम में रहने लगे।

कुछ कालोपरान्त श्रीरङ्गम पर यवनों का आक्रमण हुआ, जिससे मन्दिर के आचार्यों तथा उनके प्रधान सुदर्शनाचार्य ने वेदान्तदेशिक को बुलाया। उन्होंने अपने दो पुत्रों तथा श्रीभाष्य की 'श्रुतप्रकाशिका' व्याख्या को उनके हाथों में सौंप दिया। वेदान्तदेशिक वहाँ से सत्याकाल ग्राम चले आये और पुनः यादवाचल जाकर 'श्रुतप्रकाशिका' तथा विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रचार में लग गये। पुनः श्रीरङ्गम में शान्ति स्थापित होने के बाद वहीं आकर रहने लगे।

इस प्रकार वेदान्तदेशिक ने विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रचार-प्रसार करते हुये, भगवत् कार्य में संलग्न रहते हुये सन् 1369 ई0 के 14 नवम्बर, कलि संवत् 4470 के कार्तिक मास में 101 वर्ष की आयु में स्वर्गारोहण किया।

श्री वेदान्तदेशिक की रचनायें

श्री वेदान्तदेशिक ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इन्होंने अनेक भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की है। भाषा की दृष्टि से इनके द्वारा रचित ग्रन्थों को चार भागों में बाँटा जा सकता है। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, तमिल एवं मणिप्रवाल भाषा में रचना की है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों को विषय की दृष्टि से छः भागों में विभक्त कर सकते हैं। वेदान्तदेशिक द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की संख्या ज्ञात करना अत्यन्त दुरूह कार्य है, फिर भी संस्कृत भाषा में लिखे गये इनके ग्रन्थों की संख्या 62, प्राकृत में 1, तमिलभाषा में 18 तथा मणिप्रवाल भाषा में रचित रचनाओं की संख्या 34 मानी गई है। विषय की दृष्टि से उनके संस्कृत ग्रन्थों को निम्नलिखित छह भागों में रखा जा सकता

है। (1) मौलिक दार्शनिक ग्रन्थ, (2) स्तोत्र साहित्य, (3) काव्य, (4) धार्मिक अनुष्ठेय ग्रन्थ, (5) भाष्य या टीका ग्रन्थ एवं (6) अन्य ग्रन्थ।

(1) **मौलिक दार्शनिक ग्रन्थ** -

श्री वेदान्तदेशिक द्वारा प्रणीत दर्शन ग्रन्थों की संख्या 12 है। उन सभी 12 ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय वर्णित है -

(i) **न्याय परिशुद्धि** -

इस ग्रन्थ में गौतम के न्याय सूत्रों का वेदान्त समय से बहिष्कृत होने पर भी कथञ्चित् समयानुकूल अर्थ वर्णित हुआ है। न्यायपरिशुद्धि नामक ग्रन्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, स्मृति और प्रमेय नामक पाँच भागों में विभक्त है।

(ii) न्यायसिद्धाञ्जन :

न्याय परिशुद्धि के अन्तिम परिच्छेद में वर्णित प्रमेयतत्त्व का संक्षेप में ही वर्णन हो पाया है। इस ग्रन्थ में प्रमेयतत्त्व पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। इसमें जड़द्रव्य, ईश्वर, नित्यविभूति, बुद्धि एवं अद्रव्यसंज्ञक नामक छः परिच्छेद हैं। अन्तिम अर्थात् छठा परिच्छेद बीच में ही भङ्ग हो गया है। इसका अन्तिम भाग नहीं मिलता है।

(iii) तत्त्व मुक्ताकलाप :

तत्त्वमुक्ताकलाप में 500 श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में वेदान्त के रहस्यों को विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुसार प्रतिपादित किया गया है। इस ग्रन्थ में जड़द्रव्य, जीव, नायक, बुद्धि और अद्रव्य नामक पाँच

परिच्छेद हैं।

(iv) सर्वार्थ सिद्धि :

सर्वार्थ सिद्धि नामक ग्रन्थ में तत्त्वमुक्ताकलाप की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके माध्यम से ही तत्त्वमुक्ताकलाप को समझा जा सकता है।

(v) शतदूषणी :

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ में 100 वादों में निर्विशेष ब्रह्माद्वैत मत का निरास किया गया है। परन्तु, सम्प्रति 66 वाद ही प्राप्त होते हैं, शेष नष्ट हो गये हैं।

(vi) सेश्वर मीमांसा :

वेदान्तदेशिक ने जैमिनि के पूर्व मीमांसा दर्शन की विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करके उसे सेश्वर सिद्ध किया है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। इसके प्रथम अध्याय के केवल प्रथम और द्वितीय पाद ही प्राप्त होते हैं।

(vii) मीमांसा पादुका :

मीमांसा पादुका में 173 श्लोक हैं। यह ग्रन्थ सेश्वर मीमांसा द्वारा प्रतिपादित विषयों का पद्यात्मक संकलन है।

(viii) अधिकरण दर्पण :

वेदान्तदेशिक द्वारा प्रणीत अधिकरण दर्पण नामक ग्रन्थ इस समय लुप्त है। 'निक्षेप रक्षा' में इसका उल्लेख मिलता है। यह ग्रन्थ

ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का संग्रह रूप रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है।

(ix) अधिकरण सारावली :

अधिकरण सारावली में चार अध्याय और कुल मिलाकर 562 श्लोक हैं। यह श्रीभाष्यानुसारी ब्रह्मसूत्राधिकरणों का विषय संग्रह रूप ग्रन्थ है।

(x) चकार समर्थन :

चकार समर्थन नामक ग्रन्थ लुप्त है। श्री विद्यारण्य द्वारा शतदूषणी में किसी 'च' शब्द को अनावश्यक बताये जाने पर चकार के समर्थन में श्री वेदान्तदेशिक ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस प्रकार का उल्लेख द्राविड वैभव प्रकाशिका आदि में मिलता है।

(xi) वादित्रय खण्डनम् :

वादित्रय खण्डनम् में श्री शंकर, भाष्कर एवं यादव प्रकाश के मतों का खण्डन किया गया है। यह बहुत ही संक्षिप्त एवं संतुलित है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'परमतभङ्ग' नामक ग्रन्थ भी श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित मौलिक ग्रन्थ है।

2. स्तोत्र साहित्य :

श्री वेदान्तदेशिक ने संस्कृत में 26 स्तोत्र साहित्य की रचना की है। इसके साथ एक प्राकृत में भी 'अच्युतशतक' नामक स्तोत्र की रचना इन्होंने

की है। इस प्रकार वेदान्तदेशिक द्वारा रचित स्तोत्रों का विशाल भण्डार है जो निम्नलिखित शीर्षकों में प्रस्तुत है-

(i) दशावतार स्तोत्र :

इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रतीत होता है कि इसमें विष्णु के दश प्रमुख अवतारों की स्तुति की गई है। इस ग्रन्थ में 13 श्लोक हैं। इसमें भगवान श्री रङ्गनाथ के अवतार का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

(ii) भगवद्ध्यान सोपानम् :

इस स्तोत्र में 12 श्लोक हैं। इसमें भी श्री भगवान रङ्गनाथ की स्तुति की गई है। भगवान रङ्गनाथ की भक्ति को प्राप्त करने के लिए सोपान स्वरूप इन स्तोत्रों की रचना की गई है।

(iii) हयग्रीव स्तोत्र :

श्री वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में 33 श्लोक की रचना प्रस्तुत की है। वैष्णव सम्प्रदाय में हयग्रीव भगवान को विद्या एवं प्रकाश का प्रमुख देवता माना जाता है। इसमें 32 श्लोकों में हयग्रीव भगवान की स्तुति की गई है। तैतीसवें श्लोक में उन्होंने स्तोत्र के प्रयोजन एवं अपनी कृति होने का उल्लेख किया है।

(iv) अभीतिस्तव :

इस स्तोत्र की इतनी महिमा वर्णित है कि इसके पाठ से व्यक्ति भव-भय मुक्त हो जाता है।[26] इसमें 29 श्लोक हैं, जिसमें भगवान श्री

---

26 अभीतिस्तव- 29

रङ्गनाथ की स्तुति की गई है। इस स्तोत्र में श्री वेदान्तदेशिक ने रङ्गनाथ भगवान के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त की है।

(v) गोपालविंशति :

इस स्तोत्र के नाम से ही विदित होता है कि इसमें भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की गई है। कवि ने इस स्तोत्र में 20 श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की है। उन्होंने इक्कीसवें श्लोक में अपने नाम का वर्णन करते हुए स्तोत्र की महिमा बतायी है।

(vi) वरदराज पञ्चाशत :

इस स्तोत्र में 51 श्लोक हैं। वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में भगवान वरदराज की स्तुति की है। इस स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में उन्होंने स्वरचित श्लोकों का समर्पण किया है।

(vii) श्री स्तुति :

वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में भगवान् श्री विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की स्तुति की है। इसमें कुल 25 श्लोक हैं। कवि ने इस स्तोत्र की महिमा का गुणगान करते हुए बताया है कि इससे सम्पूर्ण सुख सुविधाओं की प्राप्ति संभव है।

(viii) वेगासेतु स्तोत्र :

इस स्तोत्र में कुल श्लोकों की संख्या 102 है। इस स्तोत्र का एक अन्य नाम 'यथोक्तकारि' स्तोत्र भी है। इस स्तोत्र के विषय में एक कथानक

है कि एक बार ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। इस यज्ञ में सरस्वती ने भाग नहीं लिया। वह वेगवती धारा के रूप में बहने लगी। स्तुत यथोक्तकारी विष्णु ने धारा को रोक दिया, इस कारण उनका नाम वेगासेतु पड़ गया। उन्हीं की स्तुति वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में की है।

(ix) अष्टभुजाष्टक :

इस स्तोत्र में 102 श्लोक हैं। दक्षिण भारत के काञ्चीपुरम् में स्थित यथोक्तकारिन् मन्दिर के अष्टभुजाधारी विष्णु को लक्ष्य करके इस स्तोत्र की रचना की गई है। कवि का कहना है कि शरणागत की रक्षा हेतु भगवान विष्णु ने दुगुनी (आठ) भुजायें धारण की हैं।[27]

(x) कामासिकाष्टक :

इस स्तोत्र में 92 श्लोक हैं। कवि ने इस स्तोत्र में काञ्चीपुरम् के 'कामासिका' मन्दिर में स्थित नृसिंहरूपधारी विष्णु की स्तुति की है।

(xi) देवनायक पञ्चाशत :

श्री वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र के लिये 53 श्लोकों की रचना की। तिरूवहीन्द्रपुरम् में स्थित देवनायक भगवान की स्तुति इस स्तोत्र में की गई है।

(xii) अच्युत शतकम् :

यह स्तोत्र प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इसमें 101 गाथायें हैं। इस स्तोत्र में देवनायक अर्थात् भगवान अच्युत की स्तुति की गई है।

(xiii) परमार्थ स्तुति :

---

27 अष्टभुजाष्टक- 10

इस स्तोत्र का अन्य नाम 'विजयराघव स्तुति' या 'समरपुंगव स्तुति' भी है। वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में राम को भगवान विष्णु के रूप में स्थापित कर 102 श्लोकों में स्तुति की है।

(xiv) रघुवीर गद्यम् :

इसका एक दूसरा नाम 'महावीर वैभव' भी है। वेदान्तदेशिक ने इसे गद्यरूप में प्रस्तुत किया है। इसमें भगवान राम की स्तुति की गई है।

(xv) भू स्तुति :

इस स्तोत्र में कुल 33 श्लोक हैं। इस स्तोत्र में कवि ने भू अर्थात् पृथ्वी को देवी रूप मानकर स्तुति की है।

(xvi) देहलीश स्तुति :

इस स्तोत्र में दक्षिण के तिरक्कोइलूर में स्थित भगवान देहलीश की स्तुति की गई है। इसमें श्लोकों की कुल संख्या 28 है।

(xvii) गोदास्तुति :

इस स्तोत्र में कुल 29 श्लोक हैं इसमें श्री गोदा (आण्डाल) की स्तुति की गयी है। श्री गोदा आलवारों में प्रमुख हैं।

(xviii) दयाशतकम् :

इस स्तोत्र में कवि ने श्री निवास भगवान की दया का बड़ा ही काव्यात्मक गान किया है। इसमें कुल श्लोकों की संख्या 108 है।

(xix) न्यास दशकम् :

वेदान्तदेशिक ने 10 श्लोकों में भगवान श्री वरदराज की स्तुति की है।

(xx) शरणागत दीपिका :

इस स्तोत्र में 60 श्लोक हैं। इसका एक दूसरा नाम 'दीपप्रकाश स्तोत्र' भी है। वेदान्तदेशिक ने काञ्चीपुरम् में स्थित भगवान दीप प्रकाश को लक्ष्य करके इस स्तोत्र की रचना की है।

(xxi) न्यासतिलकम् :

इस स्तोत्र में 32 श्लोक हैं। इसमें कवि ने श्री रङ्गनाथ भगवान की स्तुति की है। न्यास शब्द से विदित होता है कि कवि ने इसमें भगवान की शरणागति की है।

(xxii) षोडशायुध स्तोत्र :

इस स्तोत्र में कुल 19 श्लोक हैं। इसमें विष्णु भगवान के सोलह अस्त्रों की स्तुति की गयी है।

(xxiii) सुदर्शनाष्टकम् :

इस स्तोत्र में विष्णु भगवान के अस्त्र 'चक्र सुदर्शन' की स्तुति की गयी है। इसमें श्लोकों की संख्या 8 है। इसके अतिरिक्त नवम श्लोक में इस स्तोत्र के माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

(xxiv) गरूड दण्डक :

इस स्तोत्र में दण्डक छन्द के चार खण्डों में गरूड की स्तुति की गयी है। इसमें तीन श्लोकों का भी प्रयोग किया गया है।

(xxv) गरूड पञ्चाशत :

इस स्तोत्र में वेदान्तदेशिक ने विष्णु के वाहन गरूड की स्तुति की है। इसमें 52 श्लोक हैं। इस स्तोत्र को परव्यूहवर्णक, अमृतहरण वर्णक, नागदमन वर्णक, परिष्कारवर्णक, अद्भुत्वर्णक नामक पाँच खण्डों में बाँटा गया है।

(xxvi) यतिराज सप्तति :

इसमें कवि ने यतिराज श्री रामानुज की स्तुति की है। इस स्तोत्र में कुल 74 श्लोक हैं।

(xxviii) पादुका सहस्रम् :

इस स्तोत्र में 1008 श्लोक हैं। इस कारण यह एक वृहद् स्तोत्र है। रङ्गनाथ भगवान की पादुका को लक्ष्य करके इस स्तोत्र की रचना की गयी है। इसे प्रस्ताव, समाख्या, प्रभाव, समर्पण, प्रतिस्थापना, अधिकार परिग्रह, अभिषेक, निर्यातना, वन्दिवैतालिक, श्रृङ्गार, सञ्चार, पुष्प, पराग, नाद, रत्न सामान्य, बहुरत्न, पद्मपराग, मुक्ता, मरकत, इन्द्रनील, बिम्ब, प्रतिबिम्ब, काञ्चन, शेष, द्वन्द्व, संनिवेश, यन्त्रिका, रेखा, सुभाषित, प्रकीर्ण, चित्र, निर्वेद और फल नामक बत्तीस पद्धतियों में विभक्त किया गया है।

इस प्रकार श्री वेदान्तदेशिक ने 27 प्रबन्ध स्तोत्रों की रचना की है, परन्तु विद्वानों में इनकी संख्या के विषय में कुछ मतभेद है। यथा डा0 सत्यव्रत सिंह ने अपने शोध में 'दयाशतक' एवं 'गोदास्तुति' को काव्य के अन्तर्गत रखा है। दयाशतक एवं गोदास्तुति को काव्य न मानकर स्तोत्र मानना ही अधिक युक्तियुक्त है। यद्यपि इन ग्रन्थों में काव्यत्व है, परन्तु अन्य स्तोत्रों में काव्यता

का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है। काव्यता होने पर भी देव विशेष की स्तुति करना ही स्तोत्र ग्रन्थों का मुख्य विषय है। न्यासदशाक को भी स्तोत्रग्रन्थ ही मानना उचित है। इस स्तोत्र में वरदराज भगवान की स्तुति की गई है। डा0 सिंह ने घाटी पञ्चक, दिव्य देश मङ्गलाशासन पञ्चक एवं सुभाषित नीवी को स्तोत्रों के अन्तर्गत रखा है। घाटी पञ्चक वेदान्तदेशिक की रचना स्वीकार नहीं की जाती है। दिव्यदेशमङ्गलशासनपञ्चक रहस्यत्रयसार के अन्तर्गत माना जाता है। सुभाषित नीवी को किसी भी स्थिति में स्तोत्र ग्रन्थ नहीं माना जा सकता है बल्कि यह नीति ग्रन्थ है। इसमें किसी की स्तुति नहीं की गयी है। सुभाषित नीवी को काव्य मानना ही ठीक है। श्री काञ्ची प्रतिवादि भयङ्कर अष्णङ्गराचार्य ने उपर्युक्त स्तोत्रों के अतिरिक्त न्यास विंशति, वैराग्य पञ्चक, द्रमिडोपनिषत्सार को भी स्तोत्र ग्रन्थों के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इन्हें अनुष्ठेय ग्रन्थों के अन्तर्गत रखना चाहिए क्योंकि इनमें किसी की स्तुति नहीं की गयी है।

3. काव्य

वेदान्तदेशिक ने छः काव्यों का प्रणयन किया है, परन्तु सम्प्रति केवल चार ही प्राप्त होते हैं। उनके काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि वे दार्शनिक एवं तार्किक होने के साथ-साथ एक अच्छे कवि भी थे।

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित चार काव्य निम्नलिखित है-

(i) सङ्कल्पसूर्योदय :

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित यह एक प्रतीक नाटक है। यह 10 अङ्को में

वर्णित है। इसमें वैष्णव दर्शन का बड़ा ही मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(ii) यादवाभ्युदय :

इस काव्य में मुख्यतः महाभारत की कथा से सम्बन्धित तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। कवि ने इसमें कृष्ण के अवतार से लेकर महाभारत के युद्ध-समाप्ति तक का वर्णन किया है। यह 24 सर्गों में विभक्त है।

(iii) सुभाषित नीवी :

वेदान्त देशिक ने इसकी रचना 145 श्लोकों से की है, इसमें राजा की क्या नीति होनी चाहिए, इसका विधिवत् वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में सुभाषितों की बहुलता है। इसमें अनिपुण, हस्त, खल, दुवृत, असेव्य, महापुरूष, समचित, सदाश्रित, नीति, वदान्य, सुकवि और परीक्षित नामक बारह पद्धतियाँ हैं।

(iv) हंस सन्देश :

यह एक सन्देश या दूत खण्डकाव्य है। इस काव्य में 2 आश्वास हैं। प्रथम आश्वास में 60 श्लोक हैं तथा दूसरे में श्लोकों की सङ्ख्या 50 है। इस काव्य में रावण द्वारा अपहरण कर ले गयी सीता के लिए सन्देश भेजा गया है। राम ने एक हंस को सन्देशवाहक बनाया है।

(v) यमक रत्नाकर :

इस काव्य के बारे में विद्वानों में एक राय नहीं है। ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण कुछ कहना आसान नहीं है। काव्य के नाम से ही प्रतीत होता है कि इसमें यमक अलङ्कार की बहुलता होगी।

(vi) समस्या सहस्र :

यह काव्य भी सुलभ नहीं है। नाम से ही यह प्रतीत होता है कि इस काव्य में एक सहस्र समस्याओं का वर्णन किया गया होगा। 'स्तोत्र रत्नभाष्य' के अन्त में वर्णित 'अगणि सदसि सद्भिर्य: समस्या सहसी' से विदित होता है कि यह काव्य भी वेदान्तदेशिक द्वारा ही रचित है।

4. अनुष्ठेय ग्रन्थ :

अनुष्ठेय ग्रन्थों की सङ्ख्या 11 मानी गयी है। इन ग्रन्थों में श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत विहित कर्मों का वर्णन किया गया है।

(i) सच्चरित्र रक्षा :

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित इस ग्रन्थ में तीन अधिकरण हैं। इसमें श्री वैष्णव सम्प्रदाय प्रसिद्ध शङ्ख चक्र धारण, द्वादशोर्ध्वपुण्ड्र धारण एवं भगवन्निवेदितोपयोग की वैधता, निरवद्यता एवं भगवत् प्रणीनता का क्रम से वर्णन किया गया है।

(ii) श्री पाञ्चरात्र रक्षा :

इस ग्रन्थ में कवि ने पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता स्थापित करते हुए उसका वेदाविरूद्धत्व प्रतिपादित किया है। इसमें सिद्धान्त व्यवस्थापन, नित्यानुष्ठानस्थापन एवं नित्यग्रन्थ व्याख्यान नामक तीन अधिकरण है।

(iii) निक्षेप रक्षा :

निक्षेप, प्रपत्ति, शरणागति, न्यास आदि एक ही अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं। इस ग्रन्थ में श्रुत्यादि प्रमाणों के आधार पर निक्षेप का ब्रह्मविधात्व स्थापित किया गया है।

(iv) न्यास विंशति :

इस ग्रन्थ में कुल श्लोकों की सङ्ख्या 22 है, जिसमें 20 श्लोकों में प्रपत्ति के पर्यायवाचक, न्यास का अनुष्ठान प्रकार, उसके उपयुक्त शिष्य और आचार्य आदि के लक्षण, भक्ति और प्रपत्ति में अधिकारी भेद आदि विषयों का वर्णन किया गया है। उन्होंने न्यास विंशति नामक ग्रन्थ की व्याख्या भी लिखी है।

(v) वैराग्यपञ्चक :

वैराग्यपञ्चक नामक ग्रन्थ से वेदान्तदेशिक की वैराग्य की पराकाष्ठा का पता चलता है। यह सभी लोगों के द्वारा निश्चित ही पठनीय और आस्वादनीय है।

(vi) यज्ञोपवीत प्रतिष्ठा :

इसमें यज्ञोपवीत धारण करने की आवश्यकता तथा उसके लिये मन्त्रों के उपयोग के विषय में कवि ने बताया है। इसमें श्लोकों की कुल सङ्ख्या 9 है।

(vii) आराधना कारिका :

इसमें कवि ने केवल दो ही पद्यों की रचना की है। इसके माध्यम से प्रभु की आराधना के विषय में वर्णन किया गया है।

(viii) वैश्वदेव कारिका :

इस अनुष्ठेय ग्रन्थ में 9 श्लोक हैं। श्री वैष्णवों द्वारा अनुष्ठेय पञ्चकाल कृत्य के अन्तर्गत वैश्वदेव याग पर इसमें विचार किया गया है।

(ix) हरिदिन तिलक :

इसमें कुल 17 श्लोक हैं। श्री वैष्णवों द्वारा अनुष्ठेय एकादशी व्रत के विषय में बताया गया है।

(x) द्रमिडोपनिषत्सार :

इसमें कुल 26 श्लोक हैं। यह एक पद्यबद्ध ग्रन्थ है। इसमें शठकोपस्वामी की गाथाओं का अर्थसङ्ग्रह किया गया है।

5. भाष्य या टीका ग्रन्थ :

वेदान्तदेशिक ने अपने पूर्व आचार्यो के द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थों पर टीका या भाष्य भी लिखे हैं। टीका होने पर भी उन ग्रन्थों का बड़ा ही महत्त्व है। उनके द्वारा लिखित भाष्य निम्नलिखित हैं–

(i) तात्पर्य चन्द्रिका :

श्री वेदान्देशिक ने यह ग्रन्थ श्री रामानुज स्वामी प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया है।

(ii) गीतार्थसङ्ग्रह रक्षा :

यह ग्रन्थ भी टीका रूप में ही है। श्री यमुनाचार्य ने गीता के अर्थ को सुरक्षित रखने के लिए 32 श्लोकों की एक 'गीतार्थ सङ्ग्रह' नामक रचना प्रस्तुत की थी। श्री वेदान्तदेशिक ने इसी ग्रन्थ की रक्षा स्वरूप एक भाष्य या व्याख्या रूप ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम 'गीतार्थ सङ्ग्रह रक्षा' है।

(iii) तत्त्वटीका :

वेदान्तदेशिक ने यह ग्रन्थ श्री भाष्य का विवरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। श्री भाष्य में स्थित जिन विषयों पर श्रुतप्रकाशिका में विचार नहीं किया गया था, उन पर इसमें श्रीभाष्यकाराशयानुरूप विचार प्रस्तुत किया गया है। पर 'जिज्ञासाधिकरण' समाप्ति तक ही यह ग्रन्थ सुलभ है।

(iv) रहस्य रक्षा :

कवि द्वारा रचित यह ग्रन्थ 3 अधिकरणों में वर्णित है। श्री वैष्णव सिद्धान्त के अनुरूप प्रपत्ति का स्वरूप, महिमा, अङ्ग, अनुष्ठान, आवश्यकता आदि विषयों को इस ग्रन्थ में समाहित किया गया है। वास्तव में ये अधिकरण गद्यत्रय, स्तोत्र रत्न और चतु:श्लोकी के भाष्य हैं।

(v) ईशावास्योपनिषद् भाष्य :

उपनिषदों में प्रमुख इस उपनिषद् का अर्थ सामान्य लोगों के वश के बाहर था। अत: श्री वेदान्तदेशिक ने इस टीका की रचना की।

(vi) वेदार्थ सङ्ग्रह व्याख्या :

यह ग्रन्थ सुलभ नहीं है। श्री रामानुज स्वामी द्वारा प्रणीत वेदार्थ सङ्ग्रह पर कवि ने यह ग्रन्थ लिखा।

6. अन्य ग्रन्थ :

(i) भूगोल निर्णय :

यह भूमण्डल के विषय में जानकारी प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इसकी रचना 9 श्लोकों में की गयी है। वेदान्तदेशिक ने पुराणों में वर्णित भूमण्डल के सम्पूर्ण भागों का वर्णन प्रस्तुत किया है।

(ii) शिल्पार्थ सार :

यह ग्रन्थ सम्प्रति सुलभ नहीं है। इस ग्रन्थ की रचना वेदान्तदेशिक ने सम्भवत: तमिल भाषा में की थी। 'वैभव प्रकाशिका' नामक ग्रन्थ में महाचार्य ने शिल्पार्थसार को वेदान्तदेशिक की रचना स्वीकार किया है।

अन्यकृतियाँ :

वेदान्तदेशिक ने इन ग्रन्थों के अतिरिक्त मणिप्रवाल शैली तथा तमिल में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। मणिप्रवाल शैली एक मिश्रित शैली है जिसमें संस्कृत और तमिल को मिलाकर एक नयी भाषा का निर्माण किया गया है। इसमें लिपि तमिल की रहती है। शब्द प्राय: संस्कृत के रहते है किन्तु अन्त में विभक्तियाँ तमिल की जोड़ दी जाती है।

मणिप्रवाल शैली में लिखित वेदान्तदेशिक के ग्रन्थों को 'रहस्यग्रन्थ' की संज्ञा दी गयी है। इनकी सङ्ख्या 34 है। इनमें 6 ग्रन्थ रहस्य तथा 28 ग्रन्थ लघु रहस्य हैं। लघु रहस्य ग्रन्थों के भी दो भाग किये गये हैं। पहला अमृत-रञ्जनी तथा दूसरा अमृत स्वादिनी है। अमृत-रञ्जनी के अन्तर्गत 17 एवं अमृत स्वादिनी के अन्तर्गत 11 रचनाएं हैं।

रहस्य ग्रन्थ :

इसके अन्तर्गत 6 ग्रन्थों की कवि ने रचना की है।

(i) गुरू परम्परा सार :

कवि ने इसमें श्री वैष्णव गुरू परम्परा का क्रम, प्रतिदिन उसके अनुसन्धान की आवश्यकता आदि का संक्षेप में वर्णन किया है।

(ii) रहस्यत्रयसार :

इस ग्रन्थ में श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मूलमन्त्र, द्वयमन्त्र एवम् चरम श्लोक की वृहद् रूप में व्याख्या की गयी है। यह ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है। इसमें 32 अधिकार हैं।

(iii) परमतभङ्ग :

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित यह एक मौलिक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें स्वसिद्धान्त स्थापन पूर्वक लोकायत, बौद्ध, शाङ्कर, भाष्करीय, यादव प्रकाशीय, वैयाकरण, वैशेषिक, नैयायिक, कौमारिल, प्राभाकर, कपिल, योग, पाशुपत इत्यादि मतों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

(iv) परमपद सोपानम् :

इस ग्रन्थ में ब्रह्मविज्ञानियों के परमपद प्राप्ति का क्रम बताया गया है। इसमें विवेक, निर्वेद, विरक्ति, भीति, प्रसाद, हेतु, उत्क्रमण, अर्चिरादि मार्ग, दिव्य देश प्राप्ति एवम् मोक्षानुभव नामक नव पर्व हैं।

(v) हस्तगिरि माहात्म्यम् :

इस ग्रन्थ में ब्रह्माण्ड पुराण में कहे गये रूप में काञ्ची नागरीस्थ

हस्तगिरि का माहात्म्य तथा वहां पर ब्रह्मा द्वारा अश्वमेध याग एवं वरदराज भगवान का आविर्भाव इत्यादि का वर्णन किया गया है।

(vi) स्तेयाविरोध :

सम्प्रति यह ग्रन्थ सुलभ नहीं है। भक्तों में अग्रगण्य श्री परकाल ने दूसरों के धन का हरण करके मन्दिर निर्माण कराया था। इस ऐतिह्य के समर्थन में सम्भवत: यह ग्रन्थ लिखा गया था।

लघु रहस्य ग्रन्थ

अमृतरञ्जनी :

1. तत्त्व पदवी
2. रहस्य पदवी
3. सम्प्रदाय परिशुद्धि
4. तत्त्व नवीनतम्
5. रहस्य नवीनतम्
6. रहस्य मातृका
7. तत्त्व सन्देश
8. रहस्य सन्देश
10. रहस्य सन्देश विवरणम्
11. तत्त्व रत्नावली
12. तत्त्व रत्नावली विषय सङ्ग्रह
13. रहस्य रत्नावली
14. रहस्य रत्नावली हृदयम्
15. तत्त्वत्रय चुलकम्
16. रहस्यत्रय चुलकम्
17. सारादीप।

अमृत स्वादिनी :

1. सारसार:
2. अभयप्रदान सार:
3. तत्त्वशिखामणि: (लुप्त)
7. उपकार सङ्ग्रह
8. सार सङ्ग्रह
9. मधुकर हृदयम्

4. रहस्य शिखामणिः
5. प्रधानशतकम्
6. अञ्जलि वैभवम्
10. मुनिवाहन भोगः
11. विरोध परिहारः

श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित द्राविड गाथारूप प्राप्य ग्रन्थों की सङ्ख्या 18 है। इन्हें 'श्री देशिक प्रबन्ध' भी कहते हैं। इनके नाम निम्नलिखित है–

1. मुम्मणिवकोवै (मणित्रयमाला)
2. पन्दुप्पा (कन्दुक गाथा)
3. कडल्पा
4. अम्मानेप्पा
5. अशलपा
6. एशल्पा
7. अहैवक्लप्पतु
8. अर्थपञ्चकम्
9. पन्निरुनामम्
10. श्री वैष्णव दिनचर्या
11. नवरत्नमाला
12. तिरूचिन्मालै
13. आहार नियमः
14. तिरूमन्त्रच्चुरूक्कु
15. द्वयच्चुरूक्कु
16. चरमश्लोक कच्चुरूक्कु
17. प्रबन्धसार
18. गीतार्थ सङ्ग्रह पट्टु (भाष्यरूप)

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित छः ग्रन्थ भी श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित बताये जाते हैं जो इस समय सुलभ नहीं है[28]–

1. निगम परिमलम्
2. रसभूमामृतम्
4. गुरू रत्नावलिः
5. वृक्ष भूमामृतम्

---

28 यादवाभ्युदय प्रस्तावना पृ0 13

3. शिल्पसारः 6. प्राकृत विशद सङ्ग्रह

2. विषयवस्तु (सङ्कल्पसूर्योदय)

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में दस अङ्क हैं जिसमें प्रथम अङ्क का नाम 'स्वपक्ष प्रकाश' है। इसमें आत्मा को वैषयिक सुख से कितना भटकना पड़ता है इसका प्रतिपादन किया गया है। प्रारम्भ में ही विषकम्भक में महामोह के अनुयायी काम, रति तथा वसन्त का वार्तालाप होता है। शरीरज राग, द्वेष इत्यादि महामोहोपकारी तथा विवेक और सुमति के वार्तालाप द्वारा नित्यनिर्मलानन्द स्वरूप पुरूष का अनादिसिद्धकर्मरूपा अविद्या के द्वारा संसार में बंधना, उसको मुक्त करने वाले लक्ष्मीपति विष्णु ही परमतत्त्व हैं, इसका वर्णन, तथा उनसे भिन्न सभी अवर तत्त्व हैं, भगवान का सङ्कल्प ही पुरूष को संसार से मुक्त कराने में समर्थ है, भगवान की भक्ति ही उन्हें प्रसन्न करने का उत्तम साधन है, सभी पुरूषार्थों को प्रदान कराने में एकमात्र भगवान ही सक्षम हैं, आत्मा का नैसर्गिक स्वभाव यह है कि ब्रह्म से एकाकार स्थापित किया जाय, इत्यादि विषयों का समावेश इस प्रथम अङ्क में किया गया है।

द्वितीय अङ्क का नाम 'परपक्षप्रतिक्षेप' रखा गया है। इसमें सुमति की सखी श्रद्धा और विचारणा द्वारा पुरूष को ठगने के लिए महामोह के द्वारा किये गये प्रयत्नों का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर गुरू (रामानुज) और शिष्य (वेदान्तदेशिक) आते हैं। विवेक तथा व्यवसाय के सामने गुरू के अनुग्रह से शिष्य सांख्य, योग, न्याय, जैन, बौद्ध, पाशुपत, मीमांसक, शाङ्कर, भास्कर आदि मतों का संक्षेप में निरास करता है। इसी के साथ पाञ्चरात्र के प्रामाण्य

का समर्थन करता है। गुरू शिष्य को जीवन भर वेदान्त शास्त्र के उपदेश के लिए आज्ञा देते हैं।

तृतीय अङ्क का नाम 'मुत्तयुपायारम्भ' है। अङ्क के प्रारम्भ में विषकम्भक का प्रयोग किया गया है। विवेक के द्वारा मुक्ति के उपाय का निरूपण करने के लिए पहले राग, द्वेष आदि का प्रवेश कराया गया है। इसमें विवेक के द्वारा निषिद्धाचरणों का परित्याग कर देने वाले कर्मनिष्ठ प्राणियों का त्रिवर्गाभिलाष की प्रवृत्ति धर्म में संलग्न होना तथा त्रिवर्ग से विमुखता उत्पन्न करने वाली विरक्ति तथा विष्णु भक्ति का रागद्वेष बलात् प्रायः प्रवृत्ति निष्फलत्व दिया गया है। प्राचीन समय से एकत्रित पुण्य समूह की महिमा से प्रपन्न पुरूष ब्रह्म में निरवधि प्रेमानुध्यानरूपा समाधि करना चाहता है। इसमें आलम्बनभूत सकल कल्याण गुणाकर भगवत् स्वरूप में आनन्दातिशय के कारण तदतिरिक्त विषयों से विरक्ति अपने आप उत्पन्न हो जाती है। फिर पुरूष नित्य-नैमित्तिक कर्मो को सात्विक त्याग पुरस्सर केवल भगवदाराधन रूप समझकर निषिद्ध काम्य कर्मो का सर्वथा परित्याग करते हुए योगाभ्यास करता है। अवहितचित्त योगी के मार्ग में बीच-बीच सिद्धि विरोधी अनेक अन्तराय आते रहते है। अतः इन अन्तरायों का भी योगी द्वारा दूर से त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार दृढ़ संकल्प युक्त चित्त से मुक्त्युपाय भूत समाधि का आरम्भ करना इस अङ्क के द्वारा बताया गया है।

कवि ने चतुर्थ अङ्क का नाम 'कामादिव्यूह भेद' रखा है। समाधि आरम्भ करने वाले पुरूष का चित्त पूर्वानुभूत विषय वासनाओं से कलुषित रहता

है और समाधि स्थिरता नहीं प्राप्त करता। वह सांसारिक भोगों की पुनः अभिलाषा करता है परन्तु योगी कुछ समय तक वैषयिक सुख का अनुभव करके दोष देखकर पुनः इससे विरक्त हो जाता है। वैषयिक सुख और वैराग्य दोनों के बीच में वह दोलायमान होता है और नितान्त दयनीय दशा को प्राप्त होता है। इस प्रकार वह अन्य जनों द्वारा अपमानित होता है और उन्हें मारने की इच्छा करता है। इस द्वेष की सम्भावना पाकर मात्सर्य इत्यादि सहित राग और क्रोध व्यूह बनाकर पुरूष को नष्ट कर देना चाहते हैं। उस समय तितीक्षा, मुदिता इत्यादि कवच की सहायता से विवेक के बल से कामादिव्यूह का भेदन करके फिर से वह समाधि में स्थिरता लाने की चेष्टा करता है।

पञ्चम अङ्क का नाम 'दम्भादिउपालम्भ' है। इस अङ्क में पुरुष अपनी समाधिनिष्ठता की प्रसिद्धि करना चाहता है और इस प्रकार दम्भ का आश्रय ग्रहण करता है। दर्प भी दम्भ की सहायता लेता है। इसकी सिद्धियों से अन्य लोग ठगे जाते हैं। प्रताड़ित जन इसे प्रभूत धन देते हैं। उससे अभीष्ट भोगों का सम्पादन करके वह इसका उपयोग करता है फिर अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्तों का स्मरण करता हुआ सा कुछ असम्बद्ध और अश्रद्धेय प्रलाप करता है। प्रतारित जन इसे सिद्धस्त समझकर बड़ा ही आदर करते हैं। अनेक अवसरों पर कथा-प्रसङ्ग में असम्भाव्य एवं अतथ्य अपने वृत्तान्त का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करता है। इससे वह लोगों से और धन प्राप्त करता है। वह धन में अनादर दिखाता हुआ सब कुछ त्याग देता है। इस कारण श्रद्धालुजन शिष्य आदि के व्यपदेश से पर्याप्त धन अर्पित करते हैं। ऐसे समय

में वह असूयायुक्त हो जाता है। रामादि अवतारों की निन्दा करता है। अपने को सकल शास्त्रवेता और निर्दोष बताता हुआ अन्य सभी सिद्धान्तों को सदोष बताता है। इस प्रकार समाधिस्थ पुरुष में होने वाले अनेक दोषों का वर्णन करके यह प्रतिपादित किया गया है कि अनर्थनिदान-भूत दम्भादि में समाधिस्थ पुरुषों को मन नहीं लगाना चाहिये।

षष्ठम अङ्क का नाम 'स्थान-विशेष सङ्ग्रह' है। विषकम्भक में ही सभी पुण्य तीर्थो के कलिकाल से प्रदोषित होने के कारण हेयत्व बताकर हृदयगुहा ही योग के लिये उचित स्थान है, यह निर्णय दिया जाता है। आगे एक-एक करके पुण्य क्षेत्रतीर्थो की सदोषता का वर्णन किया गया है, जैसे- चौदहों भुवनों में पृथ्वी ही धर्मास्पद है अन्य तो भोग-भूमियां हैं। पृथ्वी पर भी भारतवर्ष ही उत्तम है। उसमें कैलाश यद्यपि काम को जला देने से शिव का निवास स्थल है, किन्तु परम एकान्ती भागवतों के लिये योग्य न होने से हेय है। गन्धमादन, वन इत्यादि संगीत ध्वनि से युक्त होने के कारण चित्त-क्षोभक हैं। हिमालय विद्याधर आदि मिथुनों का भोग स्थान है। अतः समाधि स्थान युक्त नहीं है। अयोध्या पाषण्डिगणकीर्ण होने के कारण धर्म विलुप्त है, अतः समाधि योग्य नहीं है। वाराणसी म्लेच्छप्राय होने से सदाचार रहित है। श्रीरङ्गम् क्षेत्रादि भी योगविघ्नों से भरे हैं। इसलिये कहीं किसी एकान्त प्रदेश में बैठकर हृदय गुहा में निवास करने वाले लक्ष्मीपति का ध्यान करना चाहिए, यह बताया गया है-

साकाशीति न चाकशीति भुवि सायोध्येति नाध्यास्ते

सावन्तीतिन कल्मषादवति सा काञ्चीति नोदञ्चति।

धत्ते सा मधुरेति नोत्तमधुरां मान्यापि नान्यापुरी

या बैकुण्ठकथा सुधारसभुजां रोचते नो चतेसे।।

सप्तम अङ्क का नाम 'शुभाश्रय निर्धारण' है। इसमें हृदयकमलरूप योगासन पर भगवान के ध्यान के प्रकार का वर्णन किया गया है। विषकम्भक में संस्कार नामक विवेक का शिल्पी आकर अपने कार्यों का वर्णन करते हुये विवेक के आने की सूचना देकर चला जाता है। आचार्योपदेश तथा शास्त्रादिज्ञान से अनुभूत संस्कार द्वारा स्मृतिपथ में लाये गये भगवान के दिव्य स्वरूप का ध्यान होने पर भी प्रमादिक से निद्रा, आलस्य इत्यादि के आने पर मोहवश संस्कार का विच्छेद हो जाता है और ध्यान भङ्ग हो जाता है। फिर दृढ़ाध्यवसाय पुनः संस्कार को उद्बुद्ध करके भगवद्ध्यानारूढ़ करता है। विवेक, सुमति और व्यवसाय के द्वारा होने वाले दर्शन के बहाने, होने वाले भगवत् अवतारों का वर्णन है। बाद में निदिध्यासन की मोक्षप्रदता का प्रतिपादन है। फिर विष्णु के दशों अवतारों की महिमा का कथन है।

अष्टम अङ्क का नाम 'मोहादिपराजय' है। व्यूहभेद से पराजित कामादि, दुर्वासिना और अभिनिवेश से उत्तेजित होकर स्थिर समाधि वाले पुरूष के चित्त को फिर विषयामुख करने की तैयारी करते हैं। इस स्थिति को अनुकूल समझकर महामोह अपने कामादि सैनिकों सहित राजा विवेक पर आक्रमण करता है। इसके बाद कामादि द्वारा समाधिस्थ पुरूष की अक्षोभता तथा विवेक की सर्वथा अजेयता समझकर दुर्वासिना और अभिनिवेश मोहपक्ष का परित्याग करके

सुवासना और समाध्यभिनिवेश नाम से विवेक के पक्ष में सम्मिलित हो जाते हैं। विवेक सपरिवार काम का वध करने के लिये उद्यत होता है। तदनन्तर नारद-तुम्बरू-संवाद के द्वारा विवेक और महामोह का युद्ध, मोह विनाश तथा समाधि-सम्पादन का सरस वर्णन किया गया है।

नवम अङ्क का नाम 'समाधिसम्भवे' है। अब विवेक द्वारा मोहादि के पराजित हो जाने पर पुरूष की भक्ति प्रवणता और अधिक बढ़ती है किन्तु कर्म नाम्नी अविद्या विनष्ट कामादिक को फिर कुछ-कुछ उठाती है। इस समय योगी को प्रमाद रहित होना चाहिये।

समाधिसिद्धि के लिये भगवान की शरणागत होकर वर्णाश्रमधर्मो के पालन में सावधान रहना चाहिए। इस कारण प्रसन्न होकर भगवान समय पाकर कर्मसञ्चयरूपा अविद्या को हटाकर समाधिसिद्धि प्रदान करते हैं। इस समय पुरूष की स्थिति खापोद्वौधव्यतिकर तुल्य रहती है, न तो इसे पूर्ण ब्रह्मानुभव रहता है और न संसार में गाढ़ा सङ्ग रहता है। इस समय स्वेच्छा से प्राप्त सदाचार्य द्वारा उपदिष्ट मन्त्र के अनुसन्धान से समाधि की सिद्धि होती है।

दशम अङ्क का नाम 'निःश्रेयसलाभ' है। इस अङ्क में समाधिसिद्ध पुरुष से उपासना के कारण भगवान प्रसन्न होते हैं। अर्चिरादि मार्ग से योगी को परमपद की प्राप्ति होती है। वहाँ पर 'ब्रह्मसायुज्य' नामक मुक्ति को प्राप्त करने वाले पुरुष को निरतिशय ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। अन्त में कवि इस नाटक का समर्पण भगवान वासुदेव के सम्मुख करता है।

चतुर्थ - अध्याय

अन्य प्रतीक नाटक

चतुर्थ अध्याय
अन्य प्रतीक नाटक

(क) मोहराजपराजयम्- (तेरहवीं सदी)- एक परिचय

मोहराजपराजयम् प्रतीकात्मक शैली का नाटक है। इसकी रचना जैन कवि यशपाल ने की है।[1] यशपाल चक्रवर्ती अजय पाल की सेवा में सदैव रहे। अजय पाल ने कुमारपाल के पश्चात् 1229 से 1232 ई0 तक राज्य किया। सबसे पहले यह नाटक कुमारपाल के द्वारा थारापद्र में निर्मित मन्दिर अथवा महावीर बिहार में प्रतिमा समारोह के अवसर पर मञ्चित किया गया।[2] इससे प्रतीत होता है कि लेखक थारापद्र का निवासी रहा होगा। इस तरह नाटक की रचना तेरहवीं सदी में हुई होगी। इस नाटक में पांच अङ्क हैं-

पात्र तालिका :

	परिचय	पुरुषपात्र
1.	नाटक प्रयोग प्रबन्धकर	सूत्रधार
2.	प्रधान नायक	राजा कुमार पाल
3.	स्तुतिपाठक	वैतालिक

---

1 सूत्रधार- अस्त्येवक श्री मोढवंशावतंसेन श्री अजयदेव चक्रवर्तिचरणराजीव-राजहंसेन .... परमार्हतेन यश:पाल कविना विनिर्मितं मोहराजपराजयोनाम नाटकम्-

मोहराजपराजयम् प्रथम अङ्क पृ0 3

2 सूत्रधार .... यदथ मरूमण्डलकमला मुखमण्डनकर्पूरपत्राङ्कुर थाराप्रद पुरपरिस्कार श्री कुमारविहार श्रीविरजिनेश्वरयात्रामहोत्सव प्रसङ्गसङ्ग .... मोहराजपयम् प्रथम अङ्क, पृ0 2

4.	कुमार पाल का अमात्य	पुण्यकेतु
5.	कुमार पाल प्रणिधि	ज्ञानदर्पण
6.	ज्ञान दर्पण नाम कुमार पाल प्रणिधि	योगी
7.	लोकाचार नायक कुमार पाल का सेवक	पुरुष
8.	कर्मविवर नामक कुमार पाल प्रतिहार	प्रतिहार
9.	कुमार पाल नर्म सचिव	विदूषक
10.	पुण्यकेतु मंत्रिद्वारा विपक्ष पुरुष गवेषणार्थ नियुक्त धर्मकुञ्जर नामक राजपुरूष	दाण्डपाशिक
11.	विद्याधराधिराज	पातालकेतु
12.	नगर श्रेष्ठी	कुबेर
13.	कुबेरश्रेष्ठिसखा	वामदेव
14.	नागरिक	वणिज, महत्तर वणिज महाजन
15.	संवरनामक राजशुक	शुक
16.	विवेक नृपति को लाने हेतु पुण्यकेतु के द्वारा भेजा गया कोई पुरूष	व्यवसायनगर
17.	दो राजपुरूष	पदाति
18.	संसारक नामक मोहराज-लेखाहारक	पुरूष
19.	व्यसन	द्यूतकुमार जाङ्गलक, मद्यशेखर
20.	राजा मोह का अमात्य	पापकेतु
21.	जनमनोवृत्त्याक्रामक विवेकचन्द्र का शत्रु	मोहराज

22.	जनमनोवृत्ति का अधिपति	विवेकचन्द्र
23.	हिंसा-धर्म-प्ररूप-सिद्धान्त मारि के सेवक	कापालिक, रहमाण, घटचटक, नास्तिक हाटपटक
24.	मोहराज प्रणिधि	कदागम
25.	मोहराज के पुत्र	रागकेसरी, द्वेषगजेन्द्र
26.	मोहराजसखा	मदनदेव
27.	मोहराजकटकाधिपति	कलिककन्दक, पाखण्ड, मिथ्यात्वराशि आदि

स्त्रीपात्र तालिका :

	परिचय	**स्त्रीपात्र**
1.	विवेकचन्द्र की पुत्री तथा कुमारपाल की पत्नी	कृपा सुन्दरी
2.	कुमारपाल प्रणयिनी	राज्यश्री
3.	राज्यश्री की प्रियसखी	रौद्रता
4.	कुबेरश्रेष्ठि माता	गुणश्री
5.	राज्यश्री लेखहारिका	व्यवस्था
6.	कृपा सुन्दरी की प्रियसखी	सौमता
7.	अविरतिकलानाम की मोहराज की प्रतिहारी	प्रतिहारी
8.	द्यूतकुमार की भार्या	असत्यकन्दली
9.	कृपासुन्दरी तथा नगर श्री की प्रियसखियां	वनिता एवं वनराजी
10.	दोनों बहनें	देशश्री, नगरश्री

11.	कुबेर श्रेष्ठपरिणीताविद्याधर की पुत्री	पातालचन्द्रिका
12.	पातालकेतु की पत्नी	पातालसुन्दरी
13.	कुबेर श्रेष्ठि भार्या	कमलश्री

कथावस्तु :

प्रथम अङ्क :

प्रथम अङ्क में ऋषभ, पार्श्व एवं महावीर नामक तीन तीर्थङ्करों की तीन पद्यों में स्तुति की गयी है। उसके पश्चात् सूत्रधार एवं उसकी पत्नी नटी, प्रस्तुत नाटक एवं उसके लेखक के विषय में कहा गया है। इसके पश्चात् विदूषक के साथ राजकुमार पाल रङ्गमञ्च पर आते हैं। मोहराज का वृत्तान्त जानने के निमित्त प्रेषित चर ज्ञान दर्पण पदार्पण करता है। यह जन मनोवृत्ति नामक विवेक चन्द्र की राजधानी पर महामोह के आक्रमण एवं उसकी सफलता की सूचना देती है। वह यह भी बताता है कि विवेक चन्द्र अपनी पत्नी शान्ति तथा पुत्री कृपा सुन्दरी समेत राजधानी छोड़कर चला गया है। इसके साथ वह यह भी बताता है कि वह सच्चरित्र एवं नीतिदेवी की पुत्री कीर्तिमञ्जरी (कुमारपाल की पत्नी) से भी मिला। उसने चर से मोह से सहायता मांगने के वृत्तान्त को बताया। कीर्तिमञ्जरी ने चर से यह कहा कि मोह से सहायता मांगने में राजा कुमारपाल स्वयं कारण बने हैं जिन्होंने जैन साधु के प्रयास के फलस्वरूप उसको तथा उसके भाई प्रताप को त्याग दिया है। कुमारपाल पर आक्रमण करने की तैयारी मोहराज कर रहा है। मोहराज ने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो मैं ही नहीं रहूँगा या कुमारपाल की मेरे हाथों

से मृत्यु होगी। यह समाचार सुनकर कुमारपाल अपने मन में प्रतिज्ञा करता है कि वह मोहराज को उखाड़ फेकेगा। इसके बाद वैतालिक घोषणा करता है कि उपासना का समय हो गया है, इस तरह यह अङ्क समाप्त हो गया।

दूसरे अङ्क में राजा के अमात्य पुण्यकेतु का प्रवेश होता है और उसके द्वारा विवेकचन्द्र का राजा से मिलने का समाचार ज्ञात होता है कि द्वितीय अङ्क में राजा विदूषक के साथ परम्परा से लुकछिप कर कृपा सुन्दरी तथा उसकी सखी सौमता की बातें सुनना चाहता है, अन्त में उनसे बात भी कर लेता है। दोनों की प्रेमभरी बातों को रानी राज्यश्री सुन लेती है और वह अपनी सहचरी रौद्रता के साथ बाधारूप में उपस्थित हो जाती है, राजा उनसे क्षमा मांगता है लेकिन असफल हो जाता है।

तीसरे अङ्क में पुण्यकेतु उन प्रेमियों की बाधा को बड़ी चालाकी से दूर करने में सफल होता है। वह अपनी एक सेविका को देवी की मूर्ति के पीछे बैठा देता है जिसके पास जाकर रानी अपनी होने वाली सौतन को विरूप कर देने का वरदान मांगने के लिये जाती है। इस देवी को इस सेविका के द्वारा यह उपदेश मिलता है कि कृपासुन्दरी का विवाह करके ही राजा अपने प्रतिपक्षी मोह पर विजय प्राप्त कर लेने में सफल हो सकते हैं। इसके साथ ही रानी को विवेक चन्द्र के पास जाकर उसकी कन्या के बारे में प्रार्थना करनी चाहिए। विवेक चन्द्र के पास उसकी कन्या के विवाह के सन्दर्भ में प्रार्थना करने राज्यश्री आती है। विवेकचन्द्र भी देवी की आराधना मान लेता है लेकिन वह देवी के सामने दो शर्त रखता है। पहली शर्त यह है कि

सातव्यसन निर्वासित कर दिये जांय, एवं दूसरी शर्त यह है कि लावारिस मृतकों की सम्पत्ति जब्त करने की परम्परा समाप्त की जाय। रानी इस शर्त को मान लेती है। राजा भी सहमत हो जाता है। इस अङ्क के अंत में वह मृत समझे जाने वाले कुबेर की सम्पत्ति छोड़ देता है।

चौथे अङ्क में देशश्री का रङ्गमञ्च पर पदार्पण होता है। वह अपनी छोटी पुत्री वनराजी की मदद से नगरश्री से मिलती है। नगर श्री एवं देशश्री के द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तों के विषय में कथन, उपकथन कराया गया है। इसके पश्चात् कृपासुन्दरी का प्रवेश होता है। वह मछुआरों एवं आखेटकों से बहुत घबराई हुई हैं किन्तु पुण्यकेतु द्वारा नियुक्त किये गये पुलिस अफसर (दाण्डपाशिक) से आश्वासन मिलता है। इस अङ्क में सात व्यसन द्यूत, मांस-भक्षण, मद्यपान, मारि (हत्या), चौर्य (चोरी), पारदारिकत्व एवं वेश्यागमन के निर्वासन रूप वचन का पूर्णतया पालन किया गया है।

पांचवें अङ्क में विवेकचन्द्र का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है। उसकी सुपुत्री कृपासुन्दरी का विवाह होता है, विवेकचन्द्र इस विवाह के आनन्द का वर्णन करता है, हेमचन्द्र के लोकशास्त्र जो उसका कवच एवं विंशतिवीतरागस्तुति (जो इसको छिपाये रहती है) से सुसज्जित होकर राजा, मोहराज के निवास स्थान के नजदीक आता है। अन्त में कुमारपाल एवं मोहराज में खुला संघर्ष होता है। इस संघर्ष में कुमारपाल की जीत होती है। मोहराज, पापकेतु, रागद्वेष अनङ्ग कलिकंदकादि अपने सहयोगियों के साथ इस संघर्ष में मारा जाता है। विवेक चन्द्र को अपना अपहृत राज्य 'जनमनोवृत्ति'

वापस मिल जाता है एवं भरत वाक्य से यह अङ्क समाप्त हो जाता है।

(ख) 'यतिराजविजय'- एक परिचय

यतिराजविजयनाटकम् 14वीं शताब्दी में प्रतीक शैली में लिखा गया नाटक है। इस नाटक के रचयिता वरदाचार्य हैं। श्री वरदाचार्य ने अपना परिचय स्वयं प्रस्तावना में दिया है। भगवान रामानुज मुनि के पूर्वाश्रम भागिनेय श्रीमद्सुदर्शनाचार्य 'नडादूर अम्माल्' नाम से विख्यात हैं। इन्होंने श्रीभाष्य का प्रवचन किया, उनके पौत्र वरदाचार्य से पांचवे थे। उन्हीं वरदाचार्य के नाम में समानता होने के कारण इस नाटककार को भी 'अम्माल' नाम मिला। इस नाटककार के पिता का नाम 'चटिकाशतसुदर्शनाचार्य' एवं उनका निवास स्थान काञ्ची है। इस नाटक के सम्पादक श्री सुदर्शनाचार्य के मतानुसार नाटककार वरदाचार्य परमहंस परिव्राजकाचार्य आदि वणशठगोपयति जिन्होंने 'अहोबिल' मठ की स्थापना की थी, के आचार्य थे। इसलिये इनका काल चौदहवीं सदी माना जाता है।[3] हालांकि एस0एन0 दास गुप्त एवं एस0के0डे की पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में इनका समय 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 18वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[4] लेकिन ई0वी0 वीरराघवाचार्य ने अपने निबन्ध में इनका काल 14वीं शताब्दी ही माना है।[5] जब तक वरदाचार्य के 7वीं शताब्दी के स्थिति के पोषक एवं 14वीं शताब्दी के स्थिति के बाधक

---

3 यतिराजविजय नाटकम्- भूमिका, पृ0 33-34

4 ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर- एस0के0 डे, पृ0 487

5 जनरल ऑफ वेनकेटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट भाग 2, पार्ट 1, 1941

कोई प्रबल प्रमाण न हों तब तक उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर 14वीं शताब्दी इसका रचनाकाल मानना उचित प्रतीत होता है।

पात्र तालिका

	परिचय	पुरुषपात्र
1.	राजा (नायक)	वेदमौलि
2.	मूलमन्त्री	यतिराज
3.	राजा का अनुचर	धर्म
4.	राजा का आप्त मित्र	यामनमुनि
5.	वैतालिक	रङ्गप्रिय
6.	यतिराज का अंतरङ्ग शिष्य	सुदर्शन
7.	श्री सठ परमपूज्यकोपदिव्यसूरि	पराङ्गकुश
8.	मन्त्री	भास्कर
9.	मन्त्री के सहायक	चार्वाक्, सौगत
10.	प्रधान महामन्त्री प्रतिपक्षी	मायावाद
11.	मायावाद का सहायक	शङ्कर
12.	वेदान्त के सहायक	इतिहास, पुराण
13.	राजा वेदान्त का भाई	वेदविचार
14.	सेवकगण	प्रत्यक्षादिप्रमाण
15.	अनुचर	शब्द

16.	योद्धा	सुतर्क
17.	सेनापति	तन्त्रपाल
18.	विवरणकार	सन्यासी
19.	वाचस्पति	शुक्लपट
20.	यादव शिष्य	वादसिंह
	अन्य साधारण पात्र	
	प्रस्तावना प्रवर्तक पात्र	सूत्रधार
		प्रतिहारी
		पारिपार्श्विक

स्त्रीपात्र तालिका :

	परिचय	स्त्रीपात्र
1.	पट्टमहिषी	सुमति
2.	चामरग्राहिणी	सद्विद्या
3.	सुमति की सखी	गीता
4.	मोहजननी (वेश्या)	मिथ्यादृष्टि
5.	पटरानी की बेटी	सुनीति

कथावस्तु

इस नाटक को वेदान्त विलास भी कहते हैं। इसमें भी प्रबोधचन्द्रोदय की तरह छः अङ्क हैं। इसमें नायक वेदमौलि अर्थात् वेदान्त एवं नायिका सुमति अर्थात् भगवद्भक्ति हैं।

इस नाटक के पहले अङ्क में नान्दीपाठ होता है। इसमें भगवान कृष्ण एवं भगवान विष्णु की आराधना की गयी है। नान्दी के अन्त में सूत्रधार ग्रन्थकार का परिचय देता है एवं नायक वेदमौलि की विजय की प्रस्तावना होती है।[6] नारद एवं भरत एक विषकम्भक करते हैं। उसके पश्चात् इस अङ्क में राजा वेदमौलि का पदार्पण होता है। वह अपने प्रधानमंत्री मायावाद के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करता है और कहता है कि मानार्थ तत्त्वहीन मायाजीवी अत्यन्त मृषावादी, सुमति एवं सुनीति का द्वेषी यह महामन्त्री मुझको भी वैसा ही किये जा रहा है। लेकिन अन्य किसी नीतिशाली मन्त्री के अभाव में इसी मन्त्री की मन्त्रणा पर चलने का वह सङ्कल्प करता है। प्रतिहारी आता है और भास्कर तथा यादव के साथ प्रतीक्षा करते हुये महामात्य की सूचना देता है। प्रतिहारी ने निवेदित किया कि मन्त्रशाला में भास्कर एवं यादव आपके इन्तजार में बैठे हुये हैं। राजा चल देता है। रामानुज एवं धर्म आपस में बातचीत करते हैं। धर्म बताता है कि राजा वेदमौलि, मायावाद के जाल में फंसा हुआ है। रामानुज, धर्म को आश्वस्त करते हैं और सूर्य में साक्षात् विष्णु को देखते हैं। उसी क्षण अभिजित नाम का मुहूर्त लगा हुआ है और यह लोग वेद विचार की दुर्दशा की व्याख्या करते हैं।

इस नाटक के दूसरे अङ्क में चार्वाक् एवं सौगत का पदार्पण होता है। सौगत कहता है कि मायावाद मेरा ही स्वरूप है। चार्वाक् एवं सौगत कहते हैं कि मेरा विरोध वेदमौलि से है। मायावाद नाम के मन्त्री एवं राजा का संलाप

---

6 सर्वैर्विलुप्तविषयः ....।

यतिराजविजयम्- श्लोक- 22

होता है। सभी भेदवाद के विरूद्ध उसे तैयार करके उसे निर्विशेष ज्ञान के अतिरिक्त सब कुछ अच्छा है इस प्रकार कहकर सम्पूर्ण जगत को मायाविलासिनी का विलास समझने के लिये तत्पर कर देता है। इसके पश्चात् उस मन्त्री की पुत्री मिथ्यादृष्टि आती है एवं राजा को विभिन्न उपायों से लुभाकर अपने वश में कर लेती है। कुछ समय में दोनों आनन्दित होकर क्रीड़ा करते हैं। उसी बीच वह त्रुटिवश प्राकृत श्लोक गाती है जिसके फलस्वरूप उसे मोहराज को छोड़ना पड़ता है। वह रोती हुई चली जाती है। इतने में इतिहास इस सूचना को मन्त्री तक पहुंचाता है। तब तक यतिराज एवं सुनीति आते हैं। दोनों विभिन्न प्रकार से मिथ्यादृष्टि के शोक में विह्वल राजा को समझाते हैं किन्तु राजा को उससे शान्ति नहीं मिलती।

नाटक के तीसरे अङ्क में हाथ में चामर लिये हुए सद्विद्या एवं गीता का प्रवेश होता है। गीता ने उससे राजकुल का समाचार लिया कि रामानुज राजकुल से नाराज होकर काञ्ची चले गये हैं। सेनापति तन्त्रपाल लापता है। गीता कहती है कि देवी सुमति भी राजा के वेश्या प्रेम के कारण दुःखी होकर सुनीति सहित नारायण की उपासना कर रही है। इस प्रवेशक के बाद दोनों निकल जाती हैं। रङ्गमञ्च पर यामुनाचार्य के हाथ को पकड़े हुए यादव एवं भास्कर के द्वारा अनुगम्यमान एवं मायावाद के द्वारा मार्ग दिखाये जाते हैं। इसके बाद वेदमौलि का प्रवेश होता है, हालांकि यादव एवं भास्कर, मायावाद एवं वेदमौलि को अपने-अपने अनुकूल समझते हैं। तथापि वेदमौलि यामुनाचार्य के कथन को ही सही मानते हैं। उसके पश्चात् इन सबके सैद्धान्तिक मतभेदों

का सुन्दर निरूपण कराया गया है। वेदमौलि यामुनाचार्य के प्रति अधिक आकृष्ट प्रतीत होते हैं। प्रियरङ्गम एवं रङ्गप्रिय नाम के दो वैतालिक राजा की सेवा में उपस्थित होते हैं और मायावाद का पर्दाफाश करते हैं। मायावाद चालाकी से वैतालिकों को बालक कहकर अपनी हार को छिपा लेता है और कहता है कि मैं तुम्हारे गुरू रामानन्द से निपट लूंगा। इसके बाद राजा यामुनाचार्य के प्रति वह बहुत अधिक विस्मृत होता है। इस तरह सभी लोग परिदृश्य से गायब हो जाते हैं।

यतिराजविजयनाटकम् के चौथे अङ्क में विशिष्टाद्वैत मतानुप्राणित जनक का प्रवेश होता है। उनका गीता के साथ वार्तालाप होता है। जीव तथा परमात्मा का स्वरूप एक न होकर उनका स्वभाव एक होता है। इस बात को जनक गीता से बताते हैं। वे खुद गीता का सहकारी बनने का आश्वासन देते हैं। इस विषकम्भक के बाद रामानुज, यामुन एवं राजा वेदमौलि आते हैं। सुनीति भी आ जाती है। राजा एकान्त में सुमति विषयक अपने परम प्रेम को सुनीति से व्यक्त करता है। वह सुमति को गीता के साथ लिवा आती है। यामुनादि पहले से ही चले जाते हैं। सुमति भी श्रृङ्गारिक भावों को सखियों से प्रकट करती है। मूर्छित राजा को सुमति होश में लाती है। दोनों सखियां भी चली जाती हैं, इसके पश्चात् दोनों का आनन्दपूर्वक मिलन होता है। सम्भोग शृङ्गार का पूर्ण समारम्भ होता है, फिर सुबह हो जाती है, दोनों चले जाते हैं और यहीं पर यह अङ्क समाप्त हो जाता है।

इस नाटक के पांचवें अङ्क में सुदर्शन विषकम्भक उपस्थित करता है।

उसके पश्चात् परस्पर विवदमान सन्यासी (विवरण प्रस्थान) एवं शुक्ल पट अर्थात् वाचस्पति मिश्र अपने-अपने विशिष्ट मतों के साथ प्रकट होते हैं। राजा एवं देवी का प्रवेश होता है। परदे के पीछे रामानुज को ललकारते हुए शङ्कराचार्य के प्रवेश की सूचना मिलती है। शङ्कर एवं सूदह (तन्त्रपाल) का वाक्कलह होता है। मायावाद भी शङ्कर के साथ है। योगाचार एवं शून्यवाद भी शङ्कर की सहायता में उपस्थित रहते हैं। सदूह के पक्ष में पराङ्कुश आता है। शङ्कर का पराभव दिखाया जाता है। वह विष्णुभक्ति को मान लेते हैं। मायावाद बिखर जाता है। यादव एवं भास्कर इत्यादि भी बिना लड़े हुए रामानुज मत के सामने अपनी पराजय मान लेते हैं। इस तरह रामानुज एकमात्र मुख्य अमात्य पदारूढ़ हो जाते है। यहीं पर यह अङ्क समाप्त हो जाता है।

इस नाटक के छठवें अङ्क में शङ्कर और रामानुज का प्रेमभाव से मिलन दिखाया जाता है। शङ्कर पर्यङ्क विद्या की उपासना करने के लिए अनन्तपुर प्रस्थान कर जाते हैं। यतिराज, रामानुज माधवोत्सव की तैयारी का आदेश देते हैं। वेद विचार एवं इतिहास, पुराण इत्यादि राजा का दर्शन करते हैं। स्फोटरहित शब्द भी राजा को प्रणाम करता है। सभी लोग आनन्द विभोर हो जाते हैं। आखिर में दिव्य पुरुष प्रकट होकर राजा को यह सूचना देता है कि भगवान वासुदेव प्रसन्नचित्त हैं, इसके साथ ही भरतमुनि उक्त भरतवाक्य से नाटक की समाप्ति करते हैं।

(ग) चैतन्य चन्द्रोदयनाटकम्- एक परिचय :

'चैतन्य चन्द्रोदय' नामक नाटक की रचना सोलहवीं शताब्दी में नाटककार परमानन्द दास सेन द्वारा की गई। इस नाटक में भी दस अङ्क हैं। कहा जाता है कि 'परमानन्द सेन' को स्वयं श्री चैतन्यमहाप्रभु ने 'कर्णपूर' उपाधि से विभूषित किया था। साथ ही चैतन्य महाप्रभु की दार्शनिक विचारधारा ही नाटक की पृष्ठभूमि में निहित है। चैतन्यचन्द्रोदय नाटक एक तरह से मिश्रित नाटक है क्योंकि इसके सभी पात्र प्रतीकात्मक नहीं हैं।

पात्र तालिका :

सामान्य पात्र :

1. सूत्रधार
2. विदूषक
3. वैतालिक
4. दौवारिक
5. कञ्चुकी
6. पारिपार्श्विक

अमूर्त पात्र

1. कलि
2. मैत्री
3. अद्वैत
4. अधर्म
5. प्रेमभक्ति

6. भक्तिदेवी

7. विराग

मूर्त पात्र :

1. भगवान
2. श्रीकृष्ण
3. नारद
4. श्रीवास
5. ब्रह्मानन्द
6. गोविन्द
7. सुबल
8. गन्धर्व
9. राधा
10. दामोदर
11. श्रीकृष्ण चैतन्य
12. रामानन्द
13. चन्दनेश्वर
14. नित्यानन्द
15. जगदानन्द
16. सार्वभौम भट्टाचार्य
17. गोपीनाथाचार्य

18. मुकुन्द

19. मुरारी

20. हरिदास

21. राती

22. जरती

23. पुरुष

24. गदाधर

25. गङ्गादास

26. कुसुमासव

27. रत्नाकर

28. मल्लभद्र

29. विश्वम्भर

30. ललिता

31. वक्रेश्वर

32. गङ्गा

33. गन्धर्वनामा

इस नाटक के प्रथम अङ्क की प्रस्तावना में सूत्रधार श्री चैतन्यमहाप्रभु के जन्म का कारण 'स्वानन्दावेश' के माध्यम से बताता है। इसके उपरान्त अधर्म व कलियुग से चैतन्य महाप्रभु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अफसोस जाहिर करता है और श्रीवास, हरिदास आदि का परिचय देते हुए बताता है कि ये

सब उन्हीं के पार्षद थे। श्रीवास के घर में लगे व्यक्तियों को निकलकर अपनी ओर आता देखकर कलियुग, अधर्म को छिप जाने का स्थान बताता है। इस तरह विषकम्भक समाप्त हो जाता है।

इसके बाद अद्वैत और विश्वम्भर आदि रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण होते हैं। सर्वप्रथम श्रीवास मृत्यु से पूर्व की कथा सुनाता है फिर भगवान मुकुन्द की चतुर्भुज परायणता तथा मुरारी की भक्तिहीनता का वर्णन करते हैं। भगवान विश्वम्भर भी जगन्नाथ की पत्नी शची से उसके पुत्र के रूप में खुद के अवतार की बात करते हैं। इसके बाद सभी लोग भगवान श्रीकृष्ण के भजन-कीर्तन में तल्लीन हो जाते हैं।

इस नाटक का दूसरा अङ्क 'सर्वावतार दर्शन' है। इस अङ्क में संसार की वर्तमान दशा पर पहले विराग दुःख प्रकट करता है फिर भक्तिदेवी आती है। इस तरह दोनों के मध्य श्री चैतन्य की प्रभुता के बारे में बातचीत होती है। जहाँ भक्तिदेवी चैतन्य बुद्ध की तरह, वराह तथा नरसिंह आदि मुख्य अवतारों के क्रम से चैतन्य की षड्भुजाओं के रूप में प्रदर्शन के बारे में बताती है। दोनों निकल जाते हैं। फिर भगवान विश्वम्भर व अद्वैताचार्य के बीच बातचीत होती है। भगवान अपनी प्रतिज्ञानुसार अद्वैताचार्य को महामोहक श्रीकृष्ण के स्वरूप का दर्शन कराते हैं। वह आनन्दित होता है। फिर चैतन्य की माँ शची देवी की रसोई में सभी लोग भोजन करने पहुँच जाते हैं।

इस नाटक के तीसरे अङ्क का नाम 'दानविनोद' है। इसमें मैत्री, विवेक और प्रेमभक्ति का प्रतीकात्मक वंशावली में वर्णन किया गया है जिसमें

प्रेमभक्ति और मैत्री का प्रारम्भ में अलाप होता है। यहाँ चैतन्य की कृष्ण लीला आदि का रहस्य भी उजागर किया जाता है। इस अङ्क की विशेषता यह है कि इसमें श्रीकृष्ण की रासलीला सम्बन्धी एक नाटक भी खेला जाता है। नाटक में श्रीकृष्ण द्वारा राधा से दान मांगने का अलौकिक चित्रण दर्शाया गया है। आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुँचकर इसका पर्यवसान होता है।

इस नाटक के चौथे अङ्क का नाम 'सन्यास परिग्रह' है। इस अङ्क में भगवान विश्वम्भर की वार्ता आचार्य रत्न की पत्नी एवं शची से होती है। इसके बाद श्रीवास के घर में सब कीर्तन करते हैं। रात को कीर्तन समाप्त होता है। तभी सन्यास ग्रहण करने के लिए विश्वम्भर देव चुपचाप निकलते हैं। वह अपने साथ नित्यानन्द और आचार्यरत्न को भी साथ में ले लेते हैं। बचे हुये लोग जागने पर तरह-तरह से विलाप करते हैं। आचार्यरत्न थोड़ी देर बाद वापस लौटकर सबको चौंकाने वाली सूचना देते हुये कहते हैं कि भगवान विश्वम्भर ने केशवभारती से सन्यास की दीक्षा ले ली है और उनका सन्यासाश्रम का नाम कृष्ण चैतन्य हो गया है। आचार्यरत्न कहते हैं कि उन्हें सभी लोगों को यह सूचना देने के लिये वापस भेजा गया है। इसके बाद अद्वैत उनकी माता भगवती शची को आश्वस्त करने के लिये जाने की योजना तैयार करते हैं।

इस नाटक का पाँचवां अङ्क 'अद्वैतपुरविलास' है। इस अङ्क में चैतन्य देव सन्यासाश्रम से सिद्ध परा आत्मनिष्ठा को प्राप्त करते हैं और इतस्त्रः परमहंस रूप में विहार करते है। बालकों द्वारा हरि-हरि कहे जाने पर भगवान

कृष्ण के प्रति उनका प्रेम उमड़ पड़ता है और वह सीधे वृन्दावन के लिये चल पड़ते हैं। उनके साथ चल रहा नित्यानन्द उन्हें धोखे में रखता है और रास्ते में गङ्गा नदी को ही यमुना बताता है। दोनों उसी में गोता लगाते हैं। अद्वैतादि को नित्यानन्द सूचना भिजवाता है। अद्वैत के आने पर सप्रेम मिलन होता है। इसके बाद भगवान चैतन्य उसके साथ उसके घर जाते हैं। नवद्वीप में उसके घर सूचना भेज दी जाती है। जिस पर असंख्य जनसमुदाय श्रीवास और शची के साथ भगवान चैतन्य के दर्शनार्थ उमड़ पड़ता है। भगवान ने अद्वैत के घर में ही सन्यासाश्रम की पहली दीक्षा ग्रहण की। यहाँ उनका शची श्रीवास आदि से आनन्द व स्नेह पूर्वक मिलन होता है।

छठवें अङ्क का नाम 'सार्वभौमानुग्रह' है। इस अङ्क की शुरूआत गङ्गा और समुद्र के मध्य संवाद से होती है जिसमें श्रीकृष्ण चैतन्य के मुकुन्द नित्यानन्द और जगदानन्द के साथ वृन्दावन के लिये चलने की सूचना मिलती है। रास्ते में वे कटक नामधारी राजधानी में भी रूके। दूसरे दिन जगन्नाथ का दर्शन करना चाहा, वहाँ पर उनकी ईश्वरता के सम्बन्ध में गोपीनाथाचार्य से सार्वभौम भट्टाचार्य को श्री चैतन्य देव अपना ऐश्वर्य दिखाते हैं। शास्त्रों और शाङ्कर मतवाद का चमत्कृत भट्टाचार्य द्वारा तर्कसङ्गत उपहास किया जाता है। यहाँ पर सिद्ध किया जाता है कि मूर्त आनन्द ही कृष्ण है। वह भगवान के रूप में श्रीकृष्ण चैतन्य की वन्दना करता है।

सातवें अङ्क का नाम 'तीर्थाटन' है। इस अङ्क में भट्टाचार्य और राजागजपति का श्री चैतन्य देव से प्रशंसापरक संलाप होता है। विप्रों का

आगमन होता है क्योंकि श्री चैतन्यदेव को गोदावरी तट तक भेजना है। वे बताते हैं कि कूर्मनाम के ब्राह्मण से वासुदेव नाम के कुष्ठ रोगी से भगवान कूर्मक्षेत्र में मिले। फिर भगवान नृसिंहम का दर्शन नृसिंह क्षेत्र में जाकर किया। इसके बाद भगवान चैतन्यदेव का गोदावरी तीर पर वैष्णव भक्त रामानन्दराय से मिलन हुआ। इसके उपरान्त उन ब्राह्मणों द्वारा प्रश्नोत्तर निवेदित किये गये। ये भक्ति विषयक प्रश्नोत्तर भगवान और रामानंद के बीच हुये विप्रों को पारितोषिक देकर राजा ने विदा किया, तभी दौवारिक ने सूचना दी कि कर्णाटक देश के राजा का उपहार उनके अमात्य मल्लभट्ट लेकर आये हुये हैं। इस दरबार में श्रीकृष्ण चैतन्य देव के गौरवशाली चरित्रों की चर्चा मल्लभट्ट ने भी की। इसके उपरान्त ही अन्य तीर्थस्थानों का भ्रमण करने के बाद भगवान श्रीकृष्ण चैतन्य कटक आये।

आठवें अङ्क का नाम 'प्रतापरूद्रानुग्रह' है। इस अङ्क में श्रीकृष्ण चैतन्य, काशी मिश्र के घर में रूकते हैं और श्री जगन्नाथ स्वामी का दर्शन लाभ प्राप्त कर हर्षित होते हैं। यहीं पर श्री कृष्ण चैतन्य का दर्शन गोविन्द, ब्रह्मानन्द भारती व दामोदर स्वरूप करते हैं। मौका देखकर सार्वभौम राजा गजपति की चैतन्य दर्शनोत्कण्ठा का निवेदन करते हैं लेकिन श्री चैतन्य इस पर राजी नहीं होते। तभी सार्वभौम राजा को एक उपाय सुझाते हैं। इस दौरान श्री कृष्ण चैतन्य का दर्शन करने के लिए नवद्वीप के लोग भी पहुँच जाते हैं। राजा भी तपस्वी भेष धारण करके किसी तरह भगवान का दर्शन करने में सफल हो जाता है। जब भगवान यह सब जान जाते हैं तो उसको प्रेम से

आलिङ्गित कर लेते हैं।

नवे अङ्क का नाम 'मथुरागमन' है। इस अङ्क में भक्तजनों के प्रेम का वर्णन एक किन्नर युगल द्वारा कराया जाता है। तदुपरान्त चैतन्यदेव मथुरा जाते हैं। रास्ते में मिलने वाले दुष्टजन, क्रूरकर्मा आदि उनके शरणागत होते जाते हैं। कुछ दिन वह नवद्वीप में ही बिताते हैं और फिर वृन्दावन में रहकर वापस लौट आते हैं। वाराणसी में रूककर जगन्नाथ धाम वापस आ जाते हैं। दसवें अङ्क का नाम 'महामहोत्सव' है। इस अङ्क में भक्तजनों का समागम होता है। उनके पार्षद शिवानन्द की सेवा और स्तुति का इस अङ्क में चमत्कारिक वर्णन है, भक्तजन इकट्ठे होते हैं। कीर्तन होता है और महाप्रभु के रूप में चैतन्यदेव की प्रतिष्ठा पूरी तरह जम जाती है। धूमधाम से श्री जगन्नाथ के रथयात्रा की तैयारी होती है। राजा गजपति की देवियां भी दर्शन करती हैं। रथयात्रा होती है और उसी प्रसङ्ग में अनेक पात्रों के द्वारा गोपियों के कृष्ण प्रेम का सरस चित्रण भी तुलनात्मक दृष्टि से किया जाता है। अन्त में अद्वैत के मुख से भरतवाक्य कहे जाने के बाद नाटक की इति श्री हो जाती है।

(घ) अमृतोदयम् - एक परिचय

अमृतोदयम् नाटक प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है। इसे गोकुलनाथ ने लिखा है जो मैथिलि है।[7] न्याय दर्शन इस नाटक की आधारभित्ति है। 16वीं शताब्दी में रचित इस नाटक के पात्र शास्त्रीय पदार्थ व शास्त्रकार लोग

---

[7] श्रीमद्गोकुलनाथोपाध्यायकृतम अमृतोदयम् काव्यमाला 59

हैं। अमृतोदयम् में पाँच अङ्क हैं। म० म० गोकुलनाथोपाध्याय का समय 1650 ई० के बाद का माना जाता है।[8]

पात्र तालिका

<u>सामान्य पात्र</u>

1.	राग नामक नट	-	सूत्रधार
2.	राग को सारी स्थिति का बोध कराने वाला	-	नट
3.	प्रतिबन्ध नामक न्याय राजा के दरबार का	-	कञ्चुकी
4.	साधन सिद्धि	-	चेटि
5.		-	विदूषक

<u>पुरूषपात्र</u>

1.	श्रुति द्वारा राज्याभिषिक्त पात्र	-	अपवर्ग
2.	न्याय का पुत्र	-	परामर्श
3.	योग दर्शन प्रवर्तक	-	पतञ्जलि
4.	संसारता की असारता से जन्य भाव	-	निर्वेद
5.	भैरोभक्त कापालिक	-	महाव्रत कापालिक
6.	पतञ्जलि शिष्य	-	जाबालि

---

[8] श्री गोकुलनाथोपाध्याय ने एक पुस्तक मास-मीमांसा लिखी है जिसकी पुस्तिका में इति महामहोपाध्याय - श्री गोकुलनाथ शर्मप्रणीत-मास मीमांसा - परिपूर्णा। शाके। 1680। भाद्रकृष्ण दशमी चन्द्रेऽखिलदिदं रजनीनाथः 'मास-मीमांसा' उनके प्रौढ़ावस्था की रचना होगी। अतः उनकी स्थिति 1650 ई० के बाद मानने में कुछ आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

7. जीव मुमुक्षु - पुरूष
8. जैन दर्शन में कहा गया नियम - निर्जर
9. बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मुक्तिमार्ग - बुद्धमार्ग
10. ईश्वर जगत्कारण - पुरूषोत्तम्
11. शैवदर्शनोक्त नियम - पाशुपतसिद्धान्त
12. जैनमत - अर्ह सिद्धान्त
13. यज्ञादि से मोक्ष परक सिद्धान्त - कर्मकाण्ड
14. श्रीकृष्ण भक्ति शाखा के दर्शनमत - वैष्णव सिद्धान्त
15. सांख्य-योग दर्शन मत - सांख्य-योग

स्त्री पात्र तालिका

1. अपवर्ग को राज्याभिषिक्त कराने वाली स्त्री - श्रुति
2. श्रुति की सहायता करने वाली प्रधान - आन्वीक्षिकी
3. विप्रतिपत्ति द्वारा पक्षता को प्रेरित करने वाली - कथा
4. संशय तथा अनुमितीच्छा की अयोनिजा कन्या - पक्षता
5. पुरूष को ज्ञान की ओर ले जानी वाली - श्रद्धा
6. ज्ञान से पूर्व होने वाली जिज्ञासा - विविदिषा
7. रामानुज मत - प्रथमसेश्वर मीमांसा
8. शाङ्कर मत - द्वितीयासेश्वर मीमांसा
9. उपनिषद् - ब्रह्मविद्या
10. अदृष्टवादी मत - मीमांसा
11. विद्याधिष्ठात्री - सरस्वती

इस नाटक के पहले अङ्क का नाम 'श्रवण सम्पत्ति' है। इस अङ्क के प्रवेशक में संसार नाटक का सूत्रधार शरीरस्थ सकल प्रवृत्ति का मूलराग है। आकाशवाणी द्वारा राग के आक्रामक विराग की बात भी प्रस्तावना में कही गयी है। इस बात से डरकर राग मोक्षाभिमुख होता है। श्रुति की प्रमिति नामक कन्या का अपहरण करने के लिये बौद्धसेना इसी समय आक्रमण करती है। बौद्धों के हाथ में पड़ी हुई प्रमिति को छुड़ाने के लिये आन्वीक्षिकी पर विद्याओं के साथ तत्पर रहती है।

इसके बाद आन्वीक्षिकी अपहृत प्रमिति को बौद्धों से छुड़ाने में किये गये प्रयत्नों का श्रुति से वर्णन करती है। वह बताती है कि राक्षसी सम्भावना प्रमिति को निगल जाना चाहती है। पर मीमांसा द्वारा वह मार भगाई गयी। दोनों ओर की सेनाओं के तैयार होने पर कणाद ने आकर उसको बौद्धों से झगड़ने से रोकना चाहा पर आन्वीक्षिकी उनकी बात मानने को तैयार नहीं हुई। कापिली भी प्रमिति के उद्धार के लिये आन्वीक्षिकी का साथ देने को अग्रसर हुई परन्तु वह शत्रुओं द्वारा घिर गयी। दोनों सेनाओं के बीच युद्ध छिड़ गया। आन्वीक्षिकी के प्रधान योद्धा गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर तथा वाचस्पति रहे। प्रमिति सुरक्षित रूप से छुड़ा ली जाती है। प्रमिति पुरूष को सौंपी जाती है मगर पुरूष उस पर विश्वास नहीं करता। इसके बाद कथा को श्रुति के द्वारा न्याय पुत्र परामर्श के साथ पक्षता के संयोग कराने की आज्ञा दी गयी।

दूसरे अङ्क का नाम 'मननसिद्धि' है। इसमें पक्षता के प्रति परामर्श के अनुराग की बात चेटि और कञ्चुकी के कथोपकथन में कही गयी है। उसे

पक्षता का दर्शन तृतीय भूमिका पर होता है। चार्वाक् का उदयन के साथ युद्ध भी उसी बीच दिखाया गया है। उदयन को युद्ध से अलग होने की बात कुमारिल और प्रभाकर आकर कहते हैं लेकिन उदयन उनकी बात नहीं मानते जिससे कुपित होकर कुमारिल और प्रभाकर, पक्षता तथा परामर्श की संतति के पैदा होते ही मृत्यु को प्राप्त होने का शाप देते है लेकिन युद्ध में उदयन की ही विजय हुई और सोम, सिद्धान्त, कापालिक आदि जो चार्वाक् के मित्र थे परास्त हुये और पलायन कर गये।

तीसरे अङ्क का नाम 'निदिध्यासन सिद्धि' है। इस अङ्क में निर्वेद से श्रद्धा यह पूँछती है कि श्रुति काम, लोभ को जीतने के कुछ- प्रयास कर रही है या नहीं? निर्वेद ने इस पर सकारात्मक उत्तर दिया। इसके बाद अनुमिति और प्रमिति से पुरूष संयुक्त हुआ। नियमों ने संयम की दुहिता सिद्धि को पुरूष से मिला दिया। महामोह और उसके परिजन सिद्धि से पुरूष के मिल जाने पर भाग गये। जाबालि ने श्रुति के महामोह के प्रति विद्वेष के विषय में जानना चाहा जिस पर अपवर्ग को राज्याभिषिक्त करने का कारण पतञ्जलि ने बताया।

चौथे अङ्क का नाम 'आत्मदर्शन' है। पुरूषोत्तम के साक्षात्कार के जगत् के तत्व को जानने पर पुरूष की समाधि सिद्ध हो जाती है। सृष्टि, स्थिति, संहार का मूल स्वरूप प्राप्त कर पुरूष मुक्ति के द्वार पर स्थित हो जाता है।

पाँचवें अङ्क का नाम 'अपवर्ग प्रतिष्ठा' है। इस अङ्क में पुरूष के मोक्ष प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इसमें श्रवणादि क्रिया कलाप द्वारा अपवर्ग

प्राप्त होता है जिसके स्वरूप में विवाद होता है। इसमें श्रुति के समक्ष बुद्धमार्ग, जैन मार्ग, पाशुपतमार्ग, वैष्णवमत, मीमांसा मत, रामानुजमत, शाङ्कर, सांख्ययोगमत आदि अपने-अपने सिद्धान्तों द्वारा प्राप्त मोक्ष को प्रस्तुत करते हैं, लेकिन श्रुति सबका खंडन करती है। वह अपवर्ग पद पर आन्वीक्षिकी समर्थित निर्वाण नामक मोक्ष को प्रतिष्ठित करती है। गोकुलनाथ अपवर्ग प्रतिष्ठा को प्रबन्ध रूप में रखने के लिये नियुक्त किये जाते हैं। इसे 'अपवर्ग प्रतिष्ठा' नाम न्यायमत समर्थित अपवर्ग की प्रतिष्ठा कराने के कारण ही दिया गया।

(घ) धर्मविजय नाटकम् - एक परिचय

धर्मविजयनाटकम् एक प्रतीक नाटक है। भूदेव शुक्ल ने इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी में की। तत्कालिक धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण और शिवभक्ति का प्रतिपादन ही इस नाटक की आधारभूमि है। इस नाटक में पाँच अङ्क है।

पात्र तालिका

सामान्य पात्र

1. सूत्रधार
2. नटी

पुरूष पात्र

1. धर्म (राजा)
2. अधर्म (प्रतिनायक)
3. वर्णशङ्कर

4. व्यभिचार

5. अनाचार

6. वैद्य

7. पौराणिक

8. स्मार्त

9. गणक

10. व्यवहार

11. प्राऽविवाक

12. प्रायश्चित

13. सत्य, अहिंसा इत्यादि

14. क्रोष्ठपाल

<u>स्त्रीपात्र</u>

1. ऊर्ध्वगति

2. नीचसङ्गति

3. पंडित सङ्गति

4. परस्पर प्रीति

5. दया

6. शान्ति

7. परीक्षा

8. प्राकृत

9. कविता

10. विधवा

11. विद्या

कथावस्तु

धर्मविजयनाटकम् के प्रथम अङ्क में प्रस्तावना के पश्चात् वर्णशङ्कर और उसकी पत्नी नीचसंगति के वार्तालाप के दौरान वर्णशङ्कर अपनी पत्नी को समझाते हुये धर्मविरोधिनी कृपणता, नृशंसता, मलिनता और दुर्दान्तता के प्रति अपना विश्वास प्रकट करता है। उसके पश्चात् कलियुग की वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में भी बताता है। तत्पश्चात् राजा धर्म और उसकी पत्नी ऊर्ध्वगति का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है। राजा धर्म कुलाङ्गनाओं के पवित्र चरित्र और वर्णाश्रम व्यवस्था का मनोहारी वर्णन करता है और वर्तमान के दुःख को प्रकट करता है। अधर्म नाम शत्रु पर विजय प्राप्त करने तथा पुराण सुनने के लिये तीर्थयात्रा पर चला जाता है।

इस नाटक के दूसरे अङ्क में व्यभिचार, जो कि अधर्म का चर है, दृष्टिराग की कन्या परस्पर प्रीति के साथ काशी में गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये आता है और वहाँ के निवासियों पर पड़े प्रभाव का वर्णन करता है। यहाँ काशी के लोगों की व्यभिचार परायणता का वर्णन किया गया है पश्चिमी प्रदेशों यथा सिन्धु, कुरूक्षेत्र काश्मीर आदि जगहों से अनाचार प्रभावित लोगों की धर्महीनता एवं दाम्भिकता का विवेचन किया गया है। अनाचार के साथ व्यभिचार तथा परस्पर प्रीति मन ही मन भावी विलास व्यवस्था को तय कर

लेती है। यातना का उपभोग करने के लिये राजा अधर्म अपनी परमप्रिया भैरवी के साथ आते हैं। बाल विधवा और कूट पौराणिक मिलते हैं तथा अधर्म और पौराणिक तरह-तहर की अभिसन्धि करते हैं।

तीसरे अङ्क में पण्डितसङ्गति का प्रवेश होता है। वह वृक्ष की शाखा से लटकती हुई रस्सी के फन्दे से आत्महत्या का प्रयास करती है। परीक्षा उसे इस बन्धन से मुक्त करती है। इसके उपरान्त परीक्षा ज्योतिषी, वैद्य, धूर्त, कर्मकाण्डी की अज्ञानता का पर्दाफाश करती है।

चौथे अङ्क में प्राऽविवाक के प्रवेश के पश्चात् अनृत को दण्ड देने के लिये और व्यवहार सत्य की नियुक्ति करते हैं। अहिंसा को हिंसा के समूल नाश के लिये भेजते हैं। काशी प्रधृत अधर्म द्वारा प्रयाग में अपना खेमा डालने और धर्म से युद्ध करने की मंशा की सूचना व्यवहार सभी को देता है। पाँचों महापापों को व्यवहार मृत्युदण्ड देता है तथा क्रोष्ठपाल उन सभी को वध के लिये ले जाता है।

पाँचवें अङ्क में गङ्गास्नान व प्रायश्चित प्रवेश करते हैं। दोनों के मध्य बातचीत में धर्म और अधर्म के सैनिकों के बीच युद्ध का वर्णन किया जाता है। राजा धर्म की जीत होती है। कविता उनकी प्रशंसा करती हुई प्रवेश करती है। प्राकृत और सभी विधाओं की भी प्रविष्टि होती हैं उपासना सभी को परदे के पीछे से सभी शास्त्रों को नमस्कार करने तथा भगवान शङ्कर का ध्यान करने का उपदेश देती है। विधवाओं द्वारा भी इस उपदेश पर मनन होता है। इस तरह इस नाटक की समाप्ति भरतवाक्य के साथ होती है।

(ङ) जीवानन्दम् - एक परिचय

यह नाटक भी प्रतीक शैली में लिखा गया है जो आयुर्वेद प्रधान नाटक है। आनन्दराय मखी ने इस नाटक की रचना की।[9] इन्होंने मथुरा और पुदुकोटा राज्य की संयुक्त सेना को अपने युद्ध कौशल से 1725 ई0 में पराजित किया था। वहीं विद्धानों के अनुसार इन्होंने अपने आश्रयदाता 'सहाजिराज' जिनका समय 1684 ई0 से 1710 ई0 तक माना गया है, के काल में ही जीवानन्दम् की रचना की थी अर्थात् जीवानन्दम् का रचनाकाल 1710 ई0 के पूर्व निश्चित होता है।[10]

पात्र तालिका

नायक के पक्ष में

1.	मुख्य नायक	-	जीवराजा
2.	जीवराजा की पत्नी	-	बुद्धि
3.	त्रैवर्गिक मंत्री	-	विज्ञान शर्मा
4.	बुद्धिसखी	-	धारणा
5.	अपवर्ग मंत्री	-	ज्ञानशर्मा
6.	प्रतिहारी	-	प्राण
7.	धारणा नामान्तीर	-	गार्गी
8.	विचारसाथी	-	किंकर
9.	वन्दना करने वाले	-	वैतालिक

---

[9] आनन्दरायमखिना प्रणीतम् - जीवानन्दम्

[10] जीवानन्दम् - भूमिका, स0मे0 दुरैस्वामी अय्यंगार पृ0 11-12

10.	नागरिक	–	विचार
11.	जीव के पक्ष में	–	स्मृति
		–	श्रद्धा
		–	परमेश्वरी
12.	राजा का नर्म सचिव	–	विदूषक
13.	जीव के सहायकगण	–	राजमृदङ्ग आदि अनेक औषधियाँ
14.		–	शिवभक्ति

<u>प्रतिनायक के पक्ष में</u>

1.	प्रतिनायक	–	राजयक्ष्मा
2.	तत्पत्नी	–	विषूची
3.	सेनापति	–	संधिपात्र
4.	यक्ष्मा का मन्त्री	–	पाण्डु
5.	कास पत्नी	–	छर्दि
6.	किंकर	–	स्वास, कास
7.	छर्दिस पत्नी	–	कण्ठकण्डूति
8.	यक्ष्मा के सहयोगीगण	–	गलगण्डक
		–	कुष्ठ
		–	उन्माद
		–	प्रमेह
		–	अर्ष

		–	अश्मरी
		–	कर्णमूल
		–	कामला
		–	शूल
9.	यक्ष्मा का चर	–	गद (हृद् रोग)
10.	पाण्डु का सेवक, गुप्तचर	–	व्याक्षेय
11.	यक्ष्मा के सहायक	–	क्रोध तथा अनेक अन्य रोग
12.	यक्ष्मा का सेवक	–	वल्लभपाल
13.		–	अपथ्यता
14.	चर	–	वात, पित्त, कफ
15.		–	अतिबुभुक्षा आदि दोष
16.		–	मत्सर
17.		–	काम

कथावस्तु

इस नाटक के पहले अङ्क में जीव राजा का मन्त्री विज्ञान शर्मा अपने प्रतिद्वन्द्वी राजयक्ष्मा के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिये धारणा नाम की स्त्री को राजाज्ञा से गुप्तचर बनाकर भेजता है। धारणा तापसी भेष धारण करती है और शत्रु राजयक्ष्मा के बारे में सभी तरह की सूचना प्राप्त कर विज्ञान शर्मा तक पहुँचती हैं वह राजयक्ष्मा के देह नामकपुर मन्त्री द्वारा आक्रमण करके जीवराजा को प्रतिकूलता की बात भी बताती जाती है। उसके

द्वारा विरोधियों को पराजित करने का उपाय भी बताया जाता है। इसके पश्चात् विजय के लिये जीवराजा शिव और उमा की उपासना के लिये पुण्डरीकपुर पहुँचता है।

इस नाटक के दूसरे अङ्क में जीवराजा के विषय में जानने के लिये राजयक्ष्मा अपने भृत्य कास को भेजता है। रास्ते में उसकी मुलाकात पत्नी छर्दि से होती है और दोनों कुछ देर के लिये वार्तालाप करते हैं। तत्पश्चात् जीवराजा के द्वारा संकट उत्पन्न किये जाने की बात जानकर पाण्डु अपने सैनिक सन्निपात कुष्ठ आदि के साथ उसको हटाने का उपाय सोचता है। जीवराजा की बात कर्णमूल नामक गुप्तचर से भी पाण्डु को पता चलती है। जीवराजा को हटाने के लिये पाण्डु अपने रोग सैनिकों को उसके (जीवराजा) पुर को घेरने को भेजता है।

इस नाटक के तीसरे अङ्क में जीवराजा के पुर में यक्ष्मा का हृदरोग नामक गुप्तचर प्रविष्ट होता है। वहाँ वह जीवराजा के विचार नामक नगराध्यक्ष और किंकर के द्वारा रात्रि में घूमता हुआ पकड़ा जाता है। रोगरूप अनेक सैनिक जो पाण्डु द्वारा भेजे गये हैं, जीवपुर पर आक्रमण करना चाहते हैं। तत्पश्चात् शिवोपासना करते हुये जीवराजा का प्रवेश वर्णित है। इसके बाद औषधियों का मालिक चन्द्रमा ईश्वर की आज्ञा से दिव्य औषाधियों को देता है।

इस नाटक के चौथे अङ्क में विदूषक द्वारा यक्ष्मा के पक्ष वाले जीवराजा के ऊपर कूटरचना का प्रयोग कर रहे हैं, ऐसा वृत्तान्त विज्ञानशर्मा

मन्त्री को बताया जाता है। तत्पश्चात् विदूषक के भोजन प्रेम का वर्णन है। इसके बाद श्रद्धा आदि राजा से वार्तालाप, जीवराजा को शिवभक्ति का स्मरण, राज्ञी बुद्धि के साथ उद्यानगमन, देवी के साथ राजा का झूला झूलना तथा सायंकाल आदि का वर्णन किया गया है।

पाँचवे अङ्क में जीवराजा शिव के ध्यान में रत हैं। जिस वजह से पाण्डु कामादि को ध्यान भङ्ग करने को भेजता है लेकिन मत्सर नाम का यक्ष्मा का गुप्तचर जीवराजा के सेवकों द्वारा पकड़ लिया जाता है और छोड़ दिया जाता है। मत्सर अन्य कुष्ठ आदि यक्ष्मा के नौकरों को अत्यन्त खिन्न स्थिति में रास्ते में देखता है। उन लोगों के बीच बड़े हास्यास्पद तरीके से वार्तालाप कराया गया है। यह सारे वृत्तान्त मत्सर सुनाता है और जीवराजा के मार्ग में विघ्न डालने को अपथ्यता को भेजता है जीवराजा के उपायों को मत्सर के द्वारा सुनकर यक्ष्मा भी क्रोध से भरकर उस पर आक्रमण करने की तैयारी करता है।

इस नाटक के छठें अङ्क में रोग समूह जो पाण्डु द्वारा नियुक्त किये गये हैं, जीवराजा के पुर पर आक्रमण करते हैं। औषधि समूह और रोग समूह के घोर युद्ध का काल और कर्मपात्र के द्वारा वर्णन कराया गया है। इसी समय राजा जीव को ज्ञान शर्मा नामक मन्त्री मोक्ष की ओर प्रेरित करता है तथा राजा की विजय के प्रति विज्ञानशर्मा मन्त्री आश्वासन देता है लेकिन इसी बीच जीवराजा पाण्डु द्वारा भेजे गये भस्मक रोग से पीड़ित हो जाता है। सारे बलवान सैनिक, जो कि बसन्तकुसुमाकर आदि औषधियों के रूप में हैं, मारे

जाते हैं।

इस नाटके के सावर्ते अङ्क में जीवराजा शिव की कृपा से कुछ बचे हुए शत्रु सैनिकों को नष्ट कर देता है। उसके बाद प्रथम गणों से घिरे शिव और उमा योग शक्ति का उपदेश देने के लिये जीवराजा के पास स्वयं आते है जिससे जीवराजा मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जीव में ऐकान्तिक शङ्कर भक्ति की उत्पत्ति होने से रोग रूप अनिष्टों का नाश होता है और भरत वाक्य से अङ्क की समाप्ति होती है।

(ङ) विद्यापरिणयन नाटकम् - एक परिचय

विद्यापरिणयन नाटकम् प्रतीक नाटक है। इस नाटक की रचना 18वीं शताब्दी में आनन्दराय मखी ने ही की।[11] इस नाटक में कुल सात अङ्क है और यह अद्धैत दर्शन से प्रभावित नाटक है जिससे पता चलता है कि इस पर प्रबोधचन्द्रोदय, सङ्कल्पसूर्योदय इत्यादि नाटकों का प्रभाव है।[12]

पात्र तालिका

सामान्य पात्र

1. सूत्रधार
2. नटी
3. पारिपार्श्विक

---

[11] (क) आनन्दराय मखी विरचित विद्यापरिणयनम् काव्यमाला 39
(ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास - पृ0 619
बलदेव उपाध्याय ने भी 18वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ही इनका समय स्वीकार किया है।

[12] कृष्ण मिश्र प्रभृतिरत्र 'प्रबोधचन्द्रोदय' इति 'सङ्कल्पसूर्योदय' इति च न्यवन्धिनामबहुधाप्राचीनै:.......
विद्यानपरिणयनम् अङ्क-1, पृ0 3

4. दौवारिक

पुरूष पात्र

1. जीवराजा – कथानायक
2. चित्तशर्मा – राजा जीव का अमात्य
3. वस्तु विचार –
4. सत्सङ्ग
5. दिवसन सिद्धान्त
6. लोकायत सिद्धान्त
7. सोम सिद्धान्त
8. माध्व सिद्धान्त
9. बुद्ध
10. चार्वाक्
11. सुगति
12. कापालिक
13. कलि
14. काम
15. लोभ
16. हर्ष
17. तान्त्रिक
18. मान

19. दम्भ

20. मद

21. तापस (विवेक आदि)

22. सङ्कल्प

23. साम्बशैव

24. योग

<u>**स्त्री पात्र**</u>

1. शिव भक्ति

2. निवृत्ति

3. प्रवृत्ति

4. अविद्या

5. असूया

6. विषय-वासना

7. विरक्ति

8. विविदिषा

9. भक्ति

10. विद्या

11. स्मृति

12. उपनिषद् देवी

<u>**कथावस्तु**</u>

विद्यापरिणयननाटकम् के पहले अङ्क में शिवभक्ति और निवृत्ति का आगमन होता है। निवृत्ति, शिवभक्ति के माध्यम से विद्या को जीवराजा से मिलाना चाहती है। बीच में विषय-वासना, प्रवृत्ति व अविद्या विघ्न पैदा करते हैं।

इस नाटक के दूसरे अङ्क में अविद्या के द्वारा जीवराजा को भक्ति विरक्ति, निवृत्ति आदि से बचाने के लिये असूया भेजी गयी है। यह असूया और प्रवृत्ति के वार्तालाप से पता चलता है। अविद्या की सहायता विषय वासना भी करती है क्योंकि उसको इस बात का डर है कि कहीं जीवराज शमदमादि के सम्बन्ध से विद्या से सम्पर्क न प्राप्त कर लें। जीवराजा के मित्र चित्तशर्मा को अपने वश में करने की चेष्टा, प्रवृत्ति आदि करती है।

इस नाटक के तीसरे अङ्क में अलिखित विद्या का चित्र जीवराजा को दिखाने के लिये विरक्ति और निवृत्ति ले जाती है। राजा जीव के सामने चित्तशर्मा एक लम्बे उपदेश में विद्या का गुणगान करता है। राजा विद्या के चित्र को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इसी बीच चित्तशर्मा और राजा इत्यादि के विद्या सम्बन्धी सस्पृह उल्लेखों को प्रवृत्ति और विषय-वासना के साथ आई हुई अविद्या रानी विटपान्तरित होकर सुनती है। अविद्या सामने प्रस्तुत होकर राजा की भर्त्सना करती है। राजा उसे इन्द्रजाल सिद्ध करता है और प्रसङ्ग शान्त हो जाता है।

इस नाटक के चौथे अङ्क में जीव के नर्म सचिव चित्तशर्मा और सत्सङ्ग का परस्पर वार्तालाप चलता है। सत्सङ्ग जीवदेव से मिलने और विद्या

के वियोग की बात भी कहता है। चित्तशर्मा अनन्य अनुराग से कार्य की सफलता की बात कहता है फिर सब वृत्तान्त राजा को बताने के लिये निश्चित किये गये स्थान पर राजा के पास पहुँचता है। सङ्कल्पमात्र जीवराजा को संकेतस्थान (वेदारण्यमार्ग) को बताता है। मोह की ओर से चित्तशर्मा को लालच में डालने के लिये लोकायत आदि पाषाण - सिद्धान्त भेजे जाने की सूचना चित्तशर्मा खुद बताता है। उसे यह बात वस्तु-विचार से ज्ञात हुई। चित्तशर्मा यह भी बताता है। तत्पश्चात् जीवदेव की सहायता के लिये शिवभक्ति द्वारा अपने को भेजे जाने की बात कहते हुए वस्तुविचार रंगमञ्च पर प्रवेश करता है। वस्तुविचार पात्र द्वारा ही, बौद्ध, जैन, चार्वाक् आदि का खण्डन कराया गया है और अद्वैत की स्थापना कराई गई है। कलि, सोम सिद्धान्त, तंत्र, माध्व-सिद्धान्त और कापालिक आदि का भी सम्भाषण हुआ है। इस बात को भी बताया गया है कि कलि में श्रद्धा दास बनी है।

इस नाटक के पाँचवें अङ्क में जीव के सहयोगियों शम, दम आदि को नष्ट करने के लिये विषयवासना और अविद्या अपने परिवार, काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मद, दम्भ आदि को आज्ञा देती है। ये सभी उसकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं मोह भी उनका सहकारी बनता है। इसी अङ्क में चित्तशर्मा का जीवराजा के साथ प्रवेश होता है। वेदारण्य में दोनों पक्षों के घात-प्रतिघात होते हैं। पहले राजा मोह से ग्रसित होता है और फिर जग उठता है। अन्ततः अविद्या पराजित होकर सपरिवार चली जाती है और राजा विद्या की प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय करता है।

इस नाटक के छठें अङ्क में विद्या के वियोग में राजा दुःखी है। चित्तशर्मा कहता है कि यदि दोनों में अनुराग है तो विलम्ब नहीं करना चाहियें। फिर अविद्या, निवृत्ति और योग के आने पर घबराती है। तब विषयवासना उसे धैर्य दिलाती है। तत्पश्चात् चित्तशर्मा द्वारा अष्टाङ्गयोग का वर्णन कराया गया है। योग भी शिवभक्ति द्वारा ही प्राप्त है, यह बात योगपात्र द्वारा बताई गयी हैं। योग के कहने पर ही जीवराज अपने साथियों के साथ शिवभक्ति की ओर चल देते हैं जिससे अविद्या भयभीत हो जाती है। तदनन्तर निवृत्ति शिवभक्ति से विवेकादि तथा कामादि में युद्ध की बात कहने जाती है।

इस नाटक के सातवें अङ्क में कामादि की पराजय विविदिषा तथा निवृत्ति के वार्तालाप द्वारा दिखाई गयी है। साथ ही विविदिषा द्वारा शिवभक्ति से मिलने की बात भी कही गयी है। फिर शिवभक्ति को चित्तशर्मा और राजा साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। फिर शिवभक्ति विरक्ति से कहती है कि वह उपनिषद् के पास जाकर विद्या को पुण्डरीक भवन में लाये और शीघ्र विवाह की तैयारी करें। इसके बाद भरतवाक्य द्वारा नाटक की समाप्ति होती है।

पंचम - अध्याय

वस्तुवैचित्र्य की दृष्टि से अध्ययन

पञ्चम अध्याय – वस्तुवैचित्र्य की दृष्टि से अध्ययन

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

कथावस्तु का वैशिष्ट्य

इस नाटक की विशिष्टता है कि नाटक की टूटी हुई कड़ी को इसने पुनः संयोजित कर दिया। प्रबोधचन्द्रोदय एक विशिष्ट, पूर्ण रूप से उपलब्ध प्रथम प्रतीक नाटक है। यह नाटक नाट्यशास्त्रीय परिभाषा के अनुरूप है। इसकी कथावस्तु का क्षेत्र आध्यात्मिक है। प्रतीक नाटक की कथावस्तु, पात्र, रस एवं भाषा–शैली इत्यादि का इस नाटक में बहुत समीचीन वर्णन किया गया है। इस नाटक की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसकी कथावस्तु के प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिक एवं मानसिक हैं। इस नाटक में मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का आध्यात्मिकता के प्रकाश में चित्रण किया गया है। इसकी कथावस्तु किसी पौराणिक या मानव विशेष के सुख–दुःख की लौकिक कथा का केवल उल्लेख मात्र नहीं है अपितु सम्पूर्ण मानवमात्र के मन में होने वाले अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक–पात्रों के माध्यम से स्पष्ट एवं भव्य चित्रण है। नाटककार का उद्देश्य धर्म, दर्शन एवं आत्मा के मोक्ष इत्यादि तात्विक पदार्थो का चित्रण प्रस्तुत करना एवं उसका उचित समाधान करना ही दिखलाई पड़ता है। हालाँकि इसमें दार्शनिक शुष्कता नहीं आ पाती है। इसमें भी सामान्य लौकिक कथा की तरह सहृदय अपने को आनन्द लेता हुआ दिखाई पड़ता है। श्री कृष्ण मिश्र ने भावनाओं का परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करना एवं सौतेला भाई

इत्यादि का सम्बन्ध प्रदर्शित कर परस्पर विवाद एवं कलह पैदा करना, इस नाट्यकृति में दिखाया है, जो सामान्य परिवेश में भी दृष्टिगोचर होता है। इसे लेखक ने बड़े ही रोचक ढंग से वर्णित किया है। यह लेखक की अपनी मौलिकता है। इस नाटक के आधार पर परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध को इस प्रकार दिखाया जा सकता है - पुरूष की पत्नी माया के संयोग से मन नाम के पुत्र की उत्पत्ति होती है। मन की दो पत्नियाँ प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हैं पहली पत्नी से महामोह तथा दूसरी पत्नी से विवेक नाम के पुत्रों की प्राप्ति होती है। महामोह विवेक का सौतेला भाई है, फिर विवेक की पत्नी मति को कोई पुत्र नहीं उत्पन्न होता लेकिन दूसरी पत्नी उपनिषद् से प्रबोध एवं विद्या नाम के पुत्र व पुत्री का जन्म होता है। महामोह की पत्नी का नाम मिथ्यादृष्टि है। इस तरह परस्पर पिता-पुत्र आदि सम्बन्धों की स्थापना करके अमूर्त भावनाओं का मूर्त रूप में रोचक वर्णन होता है। विवेक एवं महामोह सदृश विरोधी अमूर्त भावों में परस्पर घोर संघर्ष दिखाना पूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करता है। साधारणतया संसार में देखा जाता है कि सत् भावना की विजय होती है। असत् भावना की पराजय होती है। इसी तथ्य को प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देकर सरल ढंग से सहृदय सामाजिक के समक्ष प्रतिस्थापित किया गया है। इस संघर्ष का अन्त मोक्ष में होता है।

इस नाटक में प्रस्तुत में अप्रस्तुत की झलक दिखलाई पड़ती है। प्रबोधचन्द्रोदय के प्रारम्भ में प्रस्तावना में नाटककार के आश्रयदाता, उसके संघर्ष एवं विजय प्राप्त करने का अप्रस्तुत वर्णन किया गया है।[1]

पूरे नाटक के अध्ययन से इस प्रकार का अनुमान होता है कि प्रस्तुत पुरुष ही अप्रस्तुत कीर्तिवर्मा को तथा प्रस्तुत विवेक के चरित्र का आरोप अप्रस्तुत मन्त्री गोपाल में किया गया हो। ऐसा मालूम होता है कि गोपाल मन्त्री के द्वारा कर्ण को हराकर कीर्तिवर्मा का राज्याभिषेक किया गया हो। इस अप्रस्तुत वर्णन का आरोप विवेक के द्वारा महामोह आदि को पराजित कर पुरुष (जीवात्मा) का राज्य (प्रबोधरूप ब्रह्माकारवृत्ति) को प्राप्त कराने में है। इस तरह कथावस्तु की आध्यात्मिकता, अमूर्त भावों का मूर्तिकरण तथा प्रस्तुत में अप्रस्तुत की झलक आदि इस नाटक की प्रमुख विशिष्टतायें है।

कथावस्तु के प्रमुख रूप से दो प्रकार होते हैं–[2]

1. आधिकारिक (मुख्य वस्तु)
2. प्रासङ्गिक (गौण कथावस्तु)

इसी प्रकार प्रासङ्गिक कथा के दो भेदों **पताका** एवं **प्रकरी** का वर्णन मिलता है।

---

1 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क-1, प्रस्तावना, श्लोक 4 और 9

2 (क) इतिवृत्तं द्विधाचैव ....
^ ^ ^ .... नाट्यशास्त्र अध्याय 21, श्लोक 2
(ख) वस्तु च द्विधा ....।
दशरूपक प्रथम प्रकाश, कारिका 11

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में राजा विवेक की कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। राजा विवेक इसमें नायक है और विवेक से महामोह के संघर्ष का इसमें वर्णन है। अन्त में विवेक ही विजयी होता है और फल का अधिकारी भी वही होता है। इस नाटक की कथावस्तु में 'पताका' के रूप में विष्णुभक्ति की कथा है क्योंकि विष्णुभक्ति विवेक की रक्षा हेतु विपक्षी महामोह के सहायकों से अनेक बार प्रयत्न करती है। इस प्रकार नाटक में यह कथा चलती रहती है। प्रासङ्गिक कथा का दूसरा भेद 'प्रकरी' नाम से जाना जाता है। प्रकरी उसे कहते हैं जो वस्तु, कथा, काव्य या नाटक में कुछ काल तक चलकर रूक जाती है। इस नाटक में सरस्वती की कथा प्रकरी है। कारण स्पष्ट है कि पांचवें अङ्क में रङ्गमञ्च पर मन को शान्त करने के लिये सरस्वती का प्रवेश होता है और उसी अङ्क के अन्त में प्रबोधोदय की ओर मन को अग्रसर करके वह अन्त में प्रस्थान कर जाती है। उल्लिखित विशेषताओं के अलावा प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में नाट्यशास्त्रानुसार अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों का यथोचित प्रयोग हुआ है।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अवस्था :

इस नाटक में 1. आरम्भ, 2. यत्न, 3. प्रत्याशा, 4. नियताप्ति और 5. फलागम अवस्थायें हैं। इन पांचों अवस्थाओं का सुन्दर ढंग से विन्यास किया गया है। आरम्भ नामक अवस्था किसी भी फलप्राप्ति के लिये उत्सुकता मात्र कही जाती है।[3] इस नाटक में यह आरम्भ नामक अवस्था प्रथम अङ्क के

---

3 (क) औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे

'एवं दीर्घतर निद्राविद्रावित प्रबोधरमेश्वरे कथं प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति' इस वाक्य में है, क्योंकि 'प्रबोधोदय' रूप फल के प्रति नायिका मति की उत्सुकता मात्र अभिव्यक्ति होती है। तत्पश्चात् प्रयत्न की नाट्यशास्त्र में परिभाषा इस प्रकार दी गई है- फल की प्राप्ति न होने पर उसके लिये किये गये अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को यत्न कहते हैं।[4] प्रयत्न नामक यह अवस्था नाटक के तीसरे अङ्क में शान्ति के माध्यम से श्रद्धा की खोज में है, क्योंकि नायक विवेक के पक्ष से शत्रु मोहराज को परास्त करके 'प्रबोध' रूप फल की प्राप्ति के लिये इस व्यापार को त्वरा के साथ सम्पन्न किया गया है। तीसरी अवस्था के रूप में प्रत्याशा कही गई है जिसकी परिभाषा करते हुये कहा गया है कि जहां पर प्राप्ति की आशा, उपाय तथा विघ्न की आशङ्काओं से घिरी हो, परन्तु प्राप्ति की संभावना हो उसे प्रत्याशा नामक अवस्था कहते हैं।[5] यथा इस नाटक में विष्णु भक्त को कापालिक द्वारा फल का साधन बतलाना, विष्णु भक्ति द्वारा श्रद्धा की रक्षा करना तथा उसकी आज्ञा से विवेक के सुसज्जित अपने सहयोगियों के साथ काशी में पहुंच जाने के बाद उसी के द्वारा विवेक

–दशरूपक प्रथम प्रकाश कारिका 20

(ख) भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये

– साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद कारिका 71

4 (क) प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापरोऽतित्वरान्वित:

– दशरूपक प्रथम प्रकाश, कारिका 20

(ख) प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽति त्वरान्वित:।

– साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद कारिका 72

5 (क) उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसंभव:।

– साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका 72

(ख) उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसंभव:

– दशरूपक, प्रथम प्रकाश कारिका, 21

के विषय में अनिष्ट और पराजय की आशङ्का होना 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था है। 'नियताप्ति' चौथी अवस्था है। जब विघ्न के अभाव में प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो उसे 'नियताप्ति' कहते हैं।[6] इस नाटक में विवेक की विजय के बाद सरस्वती का मन को उपदेश देना और मन का वैरागी होना आदि 'नियताप्ति' है क्योंकि 'प्रबोधोदय' रूप फल की प्राप्ति इससे निश्चित हो जाती है। 'फलागम' पांचवी अवस्था का नाम है। सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होने की अवस्था ही फलागम है। इसे ही फलयोग कहते हैं।[7] इस नाटक में मन के विषय से हट जाने पर पुरुष को ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होना अर्थात् 'प्रबोधोदय' ही फलागम है।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अर्थप्रकृति :

अर्थप्रकृतियां भी पांच हैं- 1. बीज, 2. बिन्दु, 3. पताका, 4. प्रकरी, 5. कार्य।[8] इस नाटक में इनका भी पूर्ण रूप से विन्यास पाया जाता है। बीज

---

6 (क) अपायाभावत: प्राप्तिर्नियताप्ति: सुनिश्चिता:
- दशरूपक, प्रथम प्रकाश कारिका 21

(ख) अपायाभावत: प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता।
- साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका 73

7 (क) समग्रफल सम्पत्ति: फलयोगोयशोदित:
- दशरूपक, प्रथम प्रकाश पृ0 16

(ख) साऽवस्था फलयोग: स्पाद्य: समग्रफलोदय:।
- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद, कारिका 73

(ग) अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्।
इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन् फलयोग: प्रकीर्तित:।।
- नाट्यशास्त्र, अध्याय 21, श्लोक 12

8 (क) बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा:।
अर्थप्रकृतय: पञ्च ता एता: परिकीर्तिता:
- दशरूपक प्रथम प्रकाश कारिका, 18

उस हेतु को कहते हैं जिसका पहले सूक्ष्म कथन हो किन्तु उसका अनेक रूप में विस्तार हो।[9] इस नाटक में काम के द्वारा अपनी पत्नी रति से विवेक एवं उपनिषद् देवी के संयोग से प्रबोधोदय एवं विद्या के जन्य की चर्चा करने से प्रथम अङ्क में ही इस बीज की उद्भावना होती है। वस्तुतः विद्या की उत्पत्ति का कथन इस कथा का बीज तत्त्व है। इस तत्त्व से ही सभी कथानक विकसित होते हैं। विवेक प्रबोध एवं विद्या के उदय के लिए प्रयत्नशील हैं। उससे और मोह से संघर्ष होता है। इस प्रकार कथानक इसी बीज से विस्तार पाता है।

किसी दूसरी कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है, उसे बिन्दु कहा गया है।[10] इस नाटक के द्वितीय अङ्क में

(ख) बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयःपञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधिः।।
– साहित्यदर्पण, षष्ठपरिच्छेद कारिका 64

9 (क) स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलावसानं यच्चेव बीजं तत्परिकीर्तितम्।।
– नाट्यशास्त्र, अध्याय 21, श्लोक 21

(ख) अल्पमात्रं समुदिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।।
– साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद कारिका 65

(ग) स्वल्पोद्दिदष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।
– दशरूपक, प्रथम प्रकाश कारिका 17

10 (क) अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्
– साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका 66

(ख) प्रयोजनानांविच्छेदे यदविच्छेदकारणम्
– दशरूपक

(ग) प्रयोजनानांविच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य सः बिन्दुः परिकीर्तितः।।

दम्भ एवं अहङ्कार के द्वारा महामोह के प्रबल प्रभाव की चर्चा करने से कथा के बीज का विच्छेदन हो जाता है। लेकिन जिस समय भयभीत अहङ्कार के द्वारा दम्भ से यह कहा जाता है कि मेरे राजा महामोह को महाभय उपस्थित हो गया है यह बीज का अविच्छेदक कारण 'बिन्दु' नामक अर्थप्रकृति है, क्योंकि इससे मुख्य कार्य ज्ञात होता है।

प्रकरी एवं पताका का उल्लेख कथावस्तु के प्रभेद में ही किया जा चुका है।

पांचवी अर्थप्रकृति का नाम कार्य है। जो साध्य, जिसके लिये समस्त सामग्री एकत्रित की गयी हो, उसे कार्य कहते हैं।[11] इस नाटक के छठें अङ्क में पुरूष को प्रबोधोदय की सिद्धि होती है। उसी के लिये समस्त सामग्री एकत्रित की गयी है। इसलिये यहां कार्य नामक अर्थप्रकृति है।

प्रबोधचन्द्रोदय में सन्धियाँ :

पञ्चअवस्था एवं पञ्चअर्थप्रकृति के मिलन से पञ्चसन्धियों का निर्माण होता है। ये पञ्चसन्धियां क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण है।[12]

- नाट्यशास्त्र, अध्याय 21, श्लोक 22

11 (क) यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक प्राज्ञै प्रयुज्यते।
तदर्थे यः समारम्भस्तत्कार्य परिकीर्तितम्।।
- नाट्यशास्त्र, अध्याय 21 श्लोक 25

(ख) अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्।
- साहित्यदर्पण कारिका, 69-70 षष्ठ परिच्छेद

12 (क) मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः
- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद, कारिका 75

(ख) मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः

इन सबका रूचिर सन्निवेश इस नाटक में हुआ है। 'आरम्भ' नामक अवस्था से युक्त विभिन्न प्रकार के अर्थो एवं रसों को उत्पन्न करने वाली बीज की समुत्पत्ति को 'मुख' सन्धि कहते हैं।[13] नाटक के पहले अङ्क में मति का कथन है- प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति' इस वाक्य से सूचित 'आरम्भ' अवस्था तथा प्रथम अङ्क में ही रति के 'अस्माकं कुले कालरात्रिकल्पाविद्यानाम् राक्षसी समुत्पत्स्यते' कथन में 'बीज' के संयोग से मुख सन्धि का निर्माण हुआ है।

उपर्युक्त बीज का कभी दिखाई देना और कभी दिखाई न देना इस लक्ष्यालक्ष्य के रूप में बीज का उद्भिन्न होना 'प्रतिमुख' सन्धि है।[14] इसका निर्माण 'बिन्दु' और 'यत्न' के संयोग से होता है। इस नाटक के द्वितीय और तृतीय अङ्क में मोह, क्रोध व अहङ्कार आदि विरोधियों के अत्यन्त प्रभाव का वर्णन है, तो कहीं-कहीं नायक विवेक के प्रबल प्रयत्नों का चित्रण है। इस

- दशरूपक, प्रथम प्रकाश कारिका 23

13 (क) मुखंबीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।

- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका 24

(ख) यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखंपरिकीर्तितम्।।

- साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका 76

(ग) यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्।।

- नाट्यशास्त्र अध्याय 21, श्लोक 37

14 (क) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।

- दशरूपक प्रथम प्रकाश, कारिका 30

(ख) फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।।

- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद् कारिका 77

(ग) बीजस्योद्घाटनं यत्तु दृष्टनष्टमिवक्वचित्।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम्।।

- नाट्यशास्त्र अध्याय 21, श्लोक 38

तरह प्रबोधोदय रूपफल कहीं अलक्ष्य और कहीं लक्ष्य होने से यहां 'प्रतिमुख' सन्धि है। बीज के दृष्ट होने के बाद पुनः नष्ट हो जाने पर बार-बार अन्वेषण किया जाना 'गर्भ' सन्धि है।[15]

फल को भीतर रखने की वजह से इसे गर्भ सन्धि कहते हैं। यह पताका नामक अर्थप्रकृति और प्रत्याशा नामक अवस्था के योग से बनती है। इस नाटक में 'गर्भ' सन्धि का निर्माण तृतीय अङ्क से पांचवें अङ्क के प्रारम्भ तक है। तीसरे अङ्क में विष्णु भक्ति का पताका रूप वृत्तान्त के प्रारम्भ होने पर ही इस सन्धि का आरम्भ हो जाता है। चौथे अङ्क में विवेक अपनी विजय के लिये प्रयास करता है। इस प्रकार प्रत्याशा की स्थिति पांचवें अङ्क के प्रारम्भ तक है। क्रोध, व्यसन या लोभ से जहाँ फल की प्राप्ति के विषय में विचार किया जाय तथा जिसके 'बीज' को 'गर्भ' सन्धि के द्वारा प्रकट किया गया हो, उसे विमर्श सन्धि कहते हैं।[16] यह 'प्रकरी' अर्थप्रकृति और 'नियताप्ति' अवस्था के योग से बनती है।

---

15 (क) गर्भस्तुदृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
- दशरूपक प्रथम प्रकाश कारिका 36

(ख) फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन् ।
गर्भोयत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणान्मुहः।।
-साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद कारिका 78

(ग) उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव चा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः।
- नाट्यशास्त्र अध्याय 21, श्लोक 39

16 (क) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यवसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ सोऽवमर्शः इतिस्मृतः।।
- दशरूपक प्रथम प्रकाश कारिका 43

इस नाटक में विष्णु भक्ति के द्वारा प्रेषित सरस्वती के द्वारा उपदिष्ट मन का प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर बढ़ना फल की उपलब्धि के नियत हो जाने से 'नियताप्ति' अवस्था है। सरस्वती के उपदेश से मन के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करना, गर्भ सन्धि के द्वारा बीज का प्रकट होना है। सरस्वती प्रसङ्ग का वर्णन 'प्रकरी' रूप में होने से यहाँ विमर्श सन्धि है।

पांचवी सन्धि 'निर्वहण' है। जहाँ बिखरे हुए बीज के सहित मुखादि अर्थ, एक अर्थ में एकत्रित कर दिये जाते हैं उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं। यह 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति एवं 'फलागम' अवस्था के समन्वय से बनती है। षष्ठ अङ्क में विवेक की विजय से लेकर 'प्रबोधोदय' रूपकार्य की सिद्धि पर्यन्त निर्वहण सन्धि है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण मिश्र ने नाट्यशास्त्र के अनुसार अवस्था, अर्थप्रकृति और सन्धियों का पूर्णरूप से निर्वाह किया है।

पात्रों की की दृष्टि से विशिष्टता :

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में पूर्ण मनोवैज्ञानिक ढंग से पात्रों का चरित्र चित्रण किया गया है। विवेक यहाँ नायक है और उपनिषद् मति आदि उसके परिवार के अन्य सदस्य हैं। वैशिष्ट्य अमूर्त का मूर्तिकरण ही पात्रों में प्रमुख है।

(ख) यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नोगर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः।।
- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद , कारिका 79

(ग) गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽथवा।
क्रोध व्यवसनजो वापि विमर्श स इति स्मृतः।।
- नाट्यशास्त्र, अध्याय 21 श्लोक 40

प्रतीक नाटकों की मुख्य विशेषता मनुष्य की तरह अमूर्त भावनाओं को रङ्गमञ्च पर लाना और उनमें पारस्परिक वार्तालाप कराना और उन्हीं के माध्यम से आध्यात्मिकता का प्रतिपादन कराना है।

भाषा शैली की दृष्टि से विशिष्टता :

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की भाषा भावगम्य, चित्ताकर्षक, सरल एवं सरस है। वही भाषा सशक्त है जो दूसरों के मन तक हमारे मन की बात पहुंचाये तथा उसको अपने में आत्मसात करने की शक्ति रखे। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की भाषा भी अपनी अमिट छाप छोड़ती है। इसके रचनाकार श्रीकृष्ण मिश्र का भाषा पर पूरा अधिकार था। इस कारण वे प्रभावपूर्ण ढंग से तथा सरल, सरस व गतिशील भाषा के माध्यम से आध्यात्मिक तत्त्व का प्रतिपादन कर सकने में समर्थ हुए हैं। भाषा प्रसादगुण से युक्त है। साथ ही उसमें माधुर्य भी है और ओज[17] का भी पुट भाषा की गौरववृद्धि के रूप में हुआ है। वैदर्भी रीति का विशेष प्रयोग है।[18]

गौणी रीति का प्रयोग भी कहीं कहीं हुआ है। धर्मदर्शन का प्रतिपादन सरल और सरस भाषा में किया गया है। नाटक में कहीं भी जटिलता, अस्पष्टता और नीरसता नहीं आने पायी है। नाटक के भाषा की समास शैली

---

17 अद्याप्युन्मदयातुधानतरूणी चञ्चत्करास्फालन-
व्यावल्गन्नृकपालरतालरणितैर्नृत्यत्पिशांगना:।।
उद्गायन्ति यशांसि यस्य विततैनर्दैः प्रचण्डानिल
प्रक्षुभ्यत्करिकुम्भकूटकुछरव्यक्तै रणक्षोणयः
– प्रबोधचन्द्रोदय 1.5

18 द्रष्टव्य प्र0च0, अङ्क 3, श्लोक 11, पृष्ठ 110

भी अधिक जटिल नहीं है। जिससे अर्थ समझने में कठिनाई हो। प्रसङ्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग हुआ है। जैसे गोपाल के पराक्रम का वर्णन करते हुये नाटककार गौणी रीति और समास बहुल शैली का सहारा न लेता तो उसके पराक्रम के सम्बन्ध में इतनी सुन्दर अभिव्यञ्जना न होती।

प्राकृत भाषा का भी प्रसङ्गानुसार अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। साधारण पात्रों से प्राकृत में तथा उच्च पात्रों से संस्कृत में बात कराई गयी है। भाषा पर लेखक का अधिकार इस तरह बन पड़ा है कि उन्होंने गम्भीरतम भावों को भी अत्यन्त सरलतम ढंग से सर्वग्राही बना दिया है अर्थात् भाषा की दृष्टि से श्रीकृष्ण मिश्र की यह कृति बिल्कुल खरी उतरती है।

इस नाटक में शैली की दृष्टि से भी अनेक विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं। अलङ्कारों का प्रयोग भी विधिवत हुआ है। रूपक, उपमा, अपह्नुति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, समासोक्ति और दीपकालङ्कार आदि का प्रयोग अच्छी प्रकार से किया गया है।

दीपक अलङ्कार का प्रयोग प्रथम अङ्क के सत्ताइसवें श्लोक में देखने योग्य है।[19] कहीं कहीं अन्तःकथाओं का सन्निवेश हो जाने से शैली की शोभा बढ़ जाती है। प्रथम अङ्क में परशुराम की प्रशंसात्मक उक्ति सूत्रधार के द्वारा

---

19 सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति।
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्।
किं नाम वामननया न समाचरन्ति।।
प्रबोधचन्द्रोदय अङ्क-1, श्लोक 27

कही गयी हैं। सूक्ष्मभाव से युक्त सूक्तियों का प्रयोग भी कहीं कहीं दृष्टव्य है। परस्पर वैर से कुलों का नाश होता है जैसे- वृक्ष की दो शाखाओं के घर्षण से अग्नि द्वारा सम्पूर्ण वन भस्मसात हो जाता है।[20] नाटककार का भाषा शैली पर पूर्ण अधिकार इस रूप में प्रदर्शित होता है कि उन्होंने सूक्ष्म गम्भीर भावों को कई सूक्तियों में व्यक्त करके बरबस ही पाठक के हृदय को मुग्ध कर लिया है। साथ ही विशिष्ट छन्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है जिससे शैली चमत्कृत हो गयी है। नाटक में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग प्रचुर रूप में हुआ है।[21] इसके अतिरिक्त वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी, इन्द्रवज्रा आदि का सुरूचिपूर्ण विधान नाटक में देखने को मिलता है। इस तरह धर्म और दर्शन जैसे सूक्ष्म नीरस विषय को भाषा-शैली के माध्यम से ही हृदयङ्गम, सरल, सरस एवं रोचक बनाना संभव हो सका है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रबोध चन्द्रोदय नाटक भाषा-शैली की दृष्टि से अत्यन्त सफल एवं सर्वोत्कृष्ट रचना है।

रस की दृष्टि से विशिष्टता :

---

20 निर्दहति कुलविशेषं ज्ञातीनां वैरसंभवः क्रोधः।
वनमिव घनपवनाहततरूवरसंघट्टसंभवोदहनः।।
- प्रबोधचन्द्रोदय अङ्क 5, श्लोक 1

21 मध्याह्नार्क मरीचिकास्विव पयः पूरोयदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।
यत्तवं विदुषां निमीलति पुनः स्रग भोगिभोगोपयं
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्मावबोधं महः।।
- प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क-1, श्लोक प्रथम

प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में वीर अथवा शृङ्गार रस की ही प्रधानता होनी चाहिये, लेकिन श्रीकृष्णमिश्र ने जिस प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रचना की, वह शान्त रस प्रधान है। इस प्रकार उन्होंने इस शान्त रस प्रधान नाटक की रचना कर एक तरह से मौलिकता का प्रदर्शन किया है। इस नाटक का विषय आध्यात्मिकता से जुड़ा होने के साथ-साथ धर्म और दर्शन से भी सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में शान्त रस की प्रधानता आध्यात्मिक विषयों के अनुसार अपेक्षित ही है। इस वजह से लगभग सभी प्रतीक नाटक दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधृत होने के कारण शान्तरस प्रधान ही है।

इस नाटक में शान्त रस ही आदि से अन्त तक अपने उत्कर्ष पर है। इसके अतिरिक्त अन्य आठों रस भी जगह-जगह प्रयुक्त हुये हैं, परन्तु गौण रूप में हैं और अङ्ग रूप में ही सुप्रयुक्त हैं। अङ्गीरस तो शान्त रस ही है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' माना गया है।[22] संसार की असारता का ज्ञान तथा परमात्मा के स्वरूप का परिज्ञान ही इसका आलम्बन विभाव है।[23]

---

22 शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः

- साहित्यदर्पण, षष्ठपरिच्छेद, पृ0 24

मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्यप्रकाश' (पृ0 116) तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगङ्गाधर' (पृ0 32) में शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' को स्वीकार किया है।

23 जिन लोगों ने 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायीभाव स्वीकार किया है उनके अनुसार इसका आलम्बन विभाव 'संसार' होगा।

सत्सङ्ग, तीर्थ, आश्रम व एकान्तवास आदि इसके उद्दीपन भाव कहे जा सकते हैं तथा दया, स्मरण, हर्ष तथा शरीर का पुलकित होना आदि सञ्चारी भाव के अन्तर्गत आते हैं।

नान्दी पाठ से ही इस नाटक में शान्तरस के स्थायीभाव 'शम' की जानकारी प्राप्त होती है। इस नाटक के शान्त रस प्रधान होने का स्पष्ट प्रतिभास प्रस्तावना में ही नट के इस वाक्य से होता है 'तद्वयं शान्तरस प्रयोगाभिनयेतात्मानंविनोदयितुमिच्छाम:' इस तरह यथार्थ रूप में ब्रह्मानंद की प्राप्ति, आत्मिक विकास, धर्म और दर्शन आदि प्रतिपाद्य विषय होने के कारण निर्विवाद रूप से शान्तरस के प्रधानत्व की सिद्धि हो जाती है।

इस नाटक के शान्त रस का आलम्बन विभाव 'प्रबोधोदय' है। इसमें अमूर्त पात्र मन के अज्ञान (मोह) और ज्ञान (विवेक) का आपस में संघर्ष दिखाते हैं। इसमें अन्ततः ज्ञान अर्थात् विवेक विजयी होता है। प्रबोध की उत्पत्ति ज्ञानी मन के शान्त एवं वैरागी होने पर होती है। दूसरे और तीसरे अङ्क में काशी के आश्रमों और ब्राह्मणों का वर्णन, प्ररूपपात्रों, चार्वाक्, जैन, बौद्ध आदि के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या, मन्दारपर्वत कुरूक्षेत्र तथा संसार की असारता दिखाना और छठवें अङ्क की दार्शनिक चर्चा आदि उद्दीपन विभाव है। स्थायी 'शम' में क्षण-प्रतिक्षण उन्मग्र, दया, हर्ष आदि सञ्चारी भाव हैं। पुरूष (ब्रह्म का अंशभूत) आत्मा इसका आश्रय है। प्रबोधोदय के बाद ब्रह्मानंद का आस्वाद रूप आनन्द को यही प्राप्त करता है। इस तरह से

अनुभाव, विभाव व सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर नाटक के अन्त में स्थायी भाव 'शम' शान्तरस का रूप धारण करता है।

गौण रस :

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अङ्ग रूप में करुण, वीर, शृङ्गार, अद्भुत, हास्य, वीभत्स व रौद्र आदि रसों का भी प्रयोग हुआ है। अन्य रसों की अपेक्षा इस नाटक में शृङ्गार रस का सन्निवेश अधिक है।

पहले अङ्क में काम और रति नामक पात्रों के विलासपूर्ण कथन से शृङ्गार का स्पष्ट आभास मिलता है। काम और रति का शृङ्गार स्वरूप में बातचीत करना, प्रत्यक्ष शृङ्गार की उद्भावना करता है। संसार को अपनी मदभरी आंखों से मतवाला बनाता हुआ रति के ऊँचे और स्थूल कुचद्वय को पीड़ित करते हुये उसके रोमाञ्चित भुजाओं से आलिङ्गित होता हुआ कामदेव आ रहा है। यह पूरी तरह शृङ्गारिक वर्णन है। इसमें काम आश्रय है और रति आलम्बन विभाव है। रति के उच्च स्तन को पीड़ित करना, रोमाञ्चित भुजाओं का आलङ्गन उद्दीपन विभाव है। उसके नेत्रों की चञ्चलता व मादकता आदि अनुभाव हैं। प्रसन्नता व हर्ष आदि सञ्चारी भाव हैं। इस तरह रति नामक स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के द्वारा पुष्ट होकर शृङ्गार रस का रूप ग्रहण करता है।

वीर रस का प्रयोग भी इस नाटक में कई बार किया गया है। चौथे अङ्क में राजा विवेक महामोह से युद्ध छिड़ जाने की बात जब कहता है तब उनमें से वस्तुविचार का वचन वीर रस से परिपूर्ण है। यहाँ पर उसका

कथन है कि पञ्चशर और पुष्पचाप वाले काम को जीतने के लिये शस्त्र की क्या जरूरत है, फिर आगे वह कहता है कि शरतुल्य चतुर्दिक विस्तृत विचारों से शत्रु सैन्य का मंथन कर वह काम को उसी तरह मार सकता है जिस प्रकार कौरव सेना को मथकर अर्जुन ने जयद्रथ को मारा था-

सोऽहं प्रकीर्णैः परितो विचारैः

शैरिवोन्मथ्य बलं परेषाम्।

सैन्यं कुरूणामिव सिन्धुराजं

गाण्डीवधन्वेव निहन्मि कामम्।।[24]

इस उक्ति में वीर रस की उद्‌भावना बनी हुई है। वस्तुविचार में निवास करने वाला 'उत्साह' ही इसका स्थायीभाव है। वस्तुविचार आश्रय, काम आलम्बन, काम की मादकता आदि उद्दीपन, काम को मारने का सङ्कल्प, उत्साहपूर्ण वचनों का कहना आदि अनुभाव तथा धैर्य, मति, गर्भ और तर्क आदि सञ्चारी भाव हैं। इन्हीं से परिपुष्ट स्थायीभाव 'उत्साह' रस चर्वणा में सहायक है।

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है। इसका स्पष्टीकरण द्वितीय अङ्क में क्रोध के ही कथन से होता है जब क्रोध अपने महाराज मोह से यह कहता है-

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि

धीरं सचेतनमनतां नयामि।

---

24 प्रबोधचन्द्रोदय, चतुर्थ अङ्क श्लोक 14, पृ0 148

कृत्यं न पश्यामि न येन हितं श्रृणोति

धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति।।[25]

"मैं संसार को अंधा कर सकता हूँ और बहरा कर सकता हूँ। धीर को अधीर तथा ज्ञानी को मूर्ख कर सकता हूँ जिससे उसे कर्त्तव्य का ज्ञान न होगा, उसे अपने हित की बात भी सुनाई नहीं पड़ेगी और बुद्धिमान होकर भी वह सब बातें भूल जायेगा।" इत्यादि कथन से सचमुच क्रोध अभिव्यक्त हो जाता है यही रौद्र रस का स्थायीभाव है इसके शत्रु विवेक के दल वाले, श्रद्धा आदि आलम्बन, उनका विरूद्ध आचरण उद्दीपन, क्रोध ही आश्रय, उसकी गर्वोक्ति ही अनुभाव तथा चिन्ता, आवेग इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन्हीं से पुष्ट हुआ 'क्रोध' नामक स्थायीभाव रौद्ररस के रूप में अभिव्यक्त होता है। वीभत्स रस का स्पष्टवर्णन वहां मिलता है जहां विष्णु भक्ति से श्रद्धा युद्ध का समाचार बता रही है-

बहुलरूधिरतोयास्तत्र सस्रुः स्रवन्त्यो

निबिडपिशितपङ्काः कङ्करङ्कावकीर्णाः।

शरदलिततविदीर्णोत्तुङ्ग मातङ्गशैल -

स्खलितरयविशीर्णच्छत्रहंसावतंसाः।।[26]

अर्थात् मांसरूपी कीचड़ से युक्त तथा कङ्करूपदीन प्राणियों से भरे हुआ रक्त रूपी जल से भरी हुई नदियां बहने लगीं। बाणों से टूटे हुये सिर वाले हाथी रूप पर्वत से वेग के साथ गिरने वाले छत्र उस नदी के हंस जैसे

25 प्रबोधचन्द्रोदय अङक 2, श्लोक 29, पृष्ठ 79

26 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क पांच, श्लोक 10, पृ0 176

दिखाई पड़ते थे। इस वर्णन में सहृदय पाठकों की 'जुगुप्सा' ही इसका स्थायीभाव है। मांस, रक्त, कङ्काल आदि आलम्बन, पाठक या दर्शक आश्रय, थूकना इत्यादि अनुभाव है।

हास्यरस का स्थायीभाव 'हास' है दूसरे अङ्क के छठवें श्लोक में विचित्र भेषधारी पाखण्डी दम्भ का वर्णन पूर्णतः हास्यास्पद है-

मृदबिन्दुलाञ्छित ललाट भुजोदरोरः

कण्ठोष्ठपृष्ठचिबुकोरूकपोल जानुः

चूडाग्रकर्णकटिपाणिविराजमान -

दर्भाङ्कुरः स्फुरति मूर्त इवैष दम्भः।।[27]

विभिन्न अङ्गों में चन्दन का लेप, शिखा और कमर में कुश धारण करना इत्यादि घटनायें हंसाने वाली हैं। यहाँ दर्शक या पाठक ही आश्रय, कुश का कमर आदि में धारण करना उद्दीपन तथा वैचित्र्य आश्चर्य इत्यादि सञ्चारी भाव है, हास्य अनुभाव है।

अद्भुत रस श्रद्धा :

छठवें अङ्क में ऐन्द्रजालिक विद्या का वर्णन करते हुये कहती है यह सौ योजन दूर का शब्द सुन लेती है, इसको वेद, पुराण तथा तर्क विद्यायें

---

27 प्रबोधचन्द्रोदय, द्वितीय अङ्क, श्लोक 6, पृ0 49-50

प्रकट होती हैं, यह पवित्र पदों द्वारा शास्त्र या कविता का निर्माण करता है। यह सम्पूर्ण संसार में घूमता हुआ मेरू की रत्न खानों को देखता है-

शब्दानेष शृणोति योजनशतादाविर्भवन्ति स्वत-

स्तास्ता वेदपुराणभारतकथास्तर्कादियोवाङ्मयाः।

ग्रथ्नाति स्वयमिच्छया शुचिपदैः शास्त्राणि काव्यानि वा

लोकान्भ्राम्यति पश्यति स्फुटरूचो रत्नस्थतीभैरवीः।[28]

इसमें वर्णित अपूर्व वस्तु को देखकर श्रद्धा के मन में उत्पन्न विस्मय ही इस रस का स्थायीभाव है। मधुमती भूमिका आलम्बन, इसका विचित्र प्रभाव, स्वर्णिम बालुकामयी नदियां, पृथुजघना स्त्रियां आदि उद्दीपन, मन आश्रय, मन का अनुमति देना अनुभाव तथा भ्रान्त आदि सञ्चारी भाव हैं।

करूण रस :

पांचवें अङ्क में मन सामान्य व्यक्ति की तरह अपनी पत्नी 'प्रवृत्ति' के दिवङ्गत होने पर विलाप करता है। उस स्थान पर करूण रस का प्रवाह देखने को मिलता है। उसके दुःख से मन के हृदय में उत्पन्न शोक इस करूण रस का स्थायी भाव है। दिवङ्गता पत्नी आलम्बन, स्वयं मन आश्रय, आश्वास इत्यादि उद्दीपन और उसके स्मरण में प्रलाप, उसके गुणों का कथन इत्यादि अनुभाव तथा मोह, स्मृति, विषाद, जड़ता आदि सञ्चारी भाव है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर प्रत्येक रसों के अनेक उदाहरण और भी देखे जा सकते हैं।

---

28 प्रबोधचन्द्रोदय षष्ठ अङ्क श्लोक 5, पृ0 207-208

अतः अङ्गी और अङ्गरस को एक दूसरे के पूरक रूप में दिखाने का नाटककार का ध्येय सफल रहा है। लौकिक व्यक्तियों की शृङ्गार के प्रति अभिरूचि को दृष्टिगत रखते हुए शृङ्गारादि रसों के द्वारा ब्रह्मानन्द जैसे शान्त से पूर्ण आनन्द को शान्तरस में परिणत कर देने में कवि की प्रतिभा प्रशंसा योग्य है। इस नाटक में मुख्य शान्त रस की सरस प्रभावशाली योजना गौण रसों को आधार बनाकर की गई है। यदि ये गौण रस न होते तो इनके अभाव में शान्त रस की योजना में मनोवैज्ञानिक प्रभाव का भी अभाव हो जाता। अतः गौण रसों ने जहां शान्त रस की नीरसता, शुष्कता को दूर किया वहीं शान्त रस के आनन्द को स्थायित्व भी प्रदान किया है। प्रबोधचन्द्रोदय रस योजना की दृष्टि से एक सरस व सफल प्रतीक नाटक है।

सङ्कल्प सूर्योदय- नाट्यशास्त्रीय समीक्षा :

श्रीवेदान्तदेशिक ने सङ्कल्पसूर्योदय नाटक को दोषरहित लक्षण समृद्धि वाला कहा है।[29] इसका अर्थ यह है कि इस नाटक में नाट्यशास्त्र के सभी घटकों का पालन सम्यक् रूप में किया गया है। यह दश अङ्कों का नाटक है। यद्यपि नाटक और प्रकरण दोनों ही दश अङ्क के हो सकते हैं परन्तु नाटक का इतिवृत्त प्रख्यात होता है और प्रकरण का इतिवृत्त कल्पित (उत्पाद्य) हुआ करता है। प्रमाणों में उत्तम उपनिषदों में प्रख्यात सिद्धान्तों को इसमें इतिवृत्तात्मक रूप देकर इसकी रचना की गई है। इस कारण इसके इतिवृत्त को काल्पनिक न कहकर प्रख्यात ही कहना उचित है। इस कारण सङ्कल्पसूर्योदय

29 लक्षण समृद्धिरनधा रसपरिपोषश्च सहृदय ग्राह्यः।
संपतति नाटकेऽस्मिन् स एषशैल्य सुकृत परिपाकः।। सं0सू0 1/21

को नाटक ही कहा जायेगा। इस नाटक का नायक विवेक है। वह शुद्ध-अशुद्ध उचित-अनुचित, पुण्य-पाप, पर-अपर आदि विवेचनक्षम है। उसकी पत्नी का नाम सुमति है। इसके सहायक व्यवसाय, शम, दम, इत्यादि हैं। प्रतिनायक महामोह है। महामोह की पत्नी दुर्मति है। महामोह के काम, क्रोध इत्यादि परिवार हैं। इसके अतिरिक्त इस नाटक में सभी अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का भी समावेश किया गया है।

(क) सन्धियां तथा सन्ध्यङ्ग :

फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पांच अवस्थायें होती हैं आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम।[30] प्रयोजन सिद्धि की हेतु अर्थप्रकृतियां हैं। ये अर्थप्रकृतियां भी पांच हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।[31] इन आरम्भ आदि पांच अवस्थाओं से जब बीजादि पांच अर्थप्रकृतियां क्रमशः मिलती हैं तो मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहार इन पांच सन्धियों की रचना होती है।[32] अवमर्श को विमर्श तथा उपसंहार को उपसंहृति या निर्वहण सन्धि भी कहा जाता है। जब किसी एक प्रयोजन से सम्बद्ध कथांशों को किसी दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है तो उस पारस्परिक सम्बन्ध या मेल को सन्धि कहते हैं।[33] मुख सन्धि में विविध प्रकार

---

30 अवस्थाः पंचकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भ यत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागमः।। दशरूपक 1/19

31 बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा। अर्थप्रकृतयः पंचता एताः परिकीर्तितताः।। द0रू0 1/18

32 अर्थप्रकृतयः पंचपंचावस्थासमन्विताः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः।। द0रू0 1/22

33 मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शापसंहृतिः। मुखं बीज समुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।। द0रू0 1/24

के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है।[34] इसके बारह अङ्ग होते हैं जो निम्नलिखित हैं- उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा कारण।[35]

'सङ्कल्पसूर्योदय' नाटक के प्रथम अङ्क में विषकम्भक के बाद बीज और आरम्भ की समन्वयात्मक मुख सन्धि प्रारम्भ होती है। "ततः प्रविशति" से इसकी अवतारणा की गयी है। राजा के कथन, प्रिये, हन्त, निर्विकार पुरूष पीड़या क्रीडन्त एते कामक्रोध लोभादयः सुपन्थानमास्थिताः वयं पुनस्तमेवं निःश्रेयसेन योजयितुं समस्तजनसांसिद्धिकसुहृदौ भगवतस्तापत्रयामिहतसर्वजनसंजीवनीं दयावृष्टिं प्रवाहयन्तः वदध्वना प्रस्थिताः। अहो महानयमुन्मत प्रलापः[36] के द्वारा बीज का बोध होता है क्योंकि पुरुष के अन्यान्य विकारों को दूर करके भगवत्कृपा के द्वारा उसमें सत्य सङ्कल्प उत्पन्न करना ही इस नाटक का फल है जिसका कि बीज रूप इस कथन में उल्लेख हुआ है। बीज का तात्पर्य है, अल्परूप में प्रक्षिप्त होकर बाद में विस्तार प्राप्त करके फलावसान तक जाना।[37]

इसी कथन के पश्चात्

महत्यारम्भेऽस्मिन् मधुरिपुदयासंभृति धृति-

र्बहिष्कृत्यारातीन सुमुखि बहिरन्तश्च भवतः।

समाधावाधाय क्षपितबृजिनं क्षत्रिणमहं

---

34 अन्तरैकार्य सम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। द0रू0 1/23

35 अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भ समन्वयात्। उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना। उद्भेद करणान्यन्वर्थानि।। द0रू0 1/25-26

36 सं0सू0, पृ0 131

37 स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति। फलावसानं यच्चैव बीजं तत्परिकीर्तितम्। नाट्यशास्त्र 21/21

पर प्राप्त्या धन्यं परिणमयितुं प्राप्तनीयम:।[38]

श्लोक द्वारा 'मधुरिपुदया सम्भृतधृति' से प्रथम अङ्क का अर्थ बहिष्कृत्यारातीन् से बाह्य कुदृष्टियों का बहिष्कार रूप 'द्वितीयाङ्कार्थ अन्तर्भवन्त:' से कामक्रोधादि बहिष्कार रूप तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-अष्टम अङ्कों का अर्थ 'समाधावाधाय' से उपासना में मनस्थापन द्वारा नवम अङ्कार्थ और 'परप्राप्ति' से दशम अङ्क का अर्थ उपक्षिप्त हुआ है।

अत: यही मुखसन्धि का उपक्षेप नामक अङ्ग है क्योंकि काव्यार्थ की समुत्पत्ति को ही उपक्षेप कहा गया है।[39]

मुख सन्धि का द्वितीय अङ्ग परिकर है-

मिथ: कलहकल्पना विषम वृत्ति लीलादया-

परिग्रहण कौतुक प्रथितपारवाश्य: प्रभु:।

स्वलक्षितसमुद्रमे सुकृते लक्षणे कुत्रचित्

घुणक्षतलिपिक्रमादुपनिपातिन: पाति न:।। सं0सू0 1/67

इस श्लोक के द्वारा बीज का थोड़ा विस्तार करने के कारण 'परिकर' नामक सन्ध्यङ्ग यहां मिलता है।[40]

अगले श्लोक-

सुखदु:खवाहिनीनां व्यत्यविनिमय निवर्तमानर्है।

नियतक्रमे प्रवाहे निपतित मुत्क्षिप्य मोदते देव:।। सं0सू0 1/68

---

38 सं0सू0, पृ0 131

39 काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरूपक्षेपइति स्मृत:। नाट्य शास्त्र 21/69

40 तन्निष्पतया तु कथनं परिन्यास: प्रकीर्तित:। ना0शा0 21/70

में उत्क्षिप्यमोदते से बीज का निष्पादन (दृढ़ीकरण) होने के कारण 'परिन्यास' नामक मुखसन्धि का तीसरा अङ्ग कहा गया है[41]

स्वरक्षण भरार्पणक्षणिक सत्रिण:क्षेत्रिण:

प्रवर्त्य कृपया स्थितिं प्रभुरभूत पूर्वोदयाम्।

जगद्विपरिवर्तन प्रथित नित्यशक्ति: स्वयं

क्षिपत्य पुनरङ्कुर दुरितमस्य लक्ष्मीपति:।।   सं0सू0 1/80

इस श्लोक में विलोमन नामक सन्ध्यङ्ग स्वीकार करना चाहिये, कारण यह है कि उपर्युक्त श्लोक में लक्ष्मीपति के गुणों का वर्णन किया गया है और गुणों का निवर्णन ही विलोमन कहा जाता है।[42]

अर्थ के निर्धारण को युक्ति कहते हैं।[43]

राजा का कथन :

दु:सहानादिदु:खसागर निमग्नस्य यथागमं यथान्याण्यं च केनचित्कारणेन समुत्तार सम्भविष्यतीति- के द्वारा 'युक्ति' नामक सन्ध्यङ्ग का वर्णन किया गया है। अगले श्लोक-

निरपायदेशिक निदर्शितामिमां

कमलासहाय करूणाधिरोहणीम्।

क्रमशोऽधिरूह्य कृतिन: समिन्धते

परिशुद्धसत्वपरिकर्मिते पदे। सं0सू0 1/81

---

41 तन्निष्पति: परिन्यासो विज्ञेय: कविभि: सदा। ना0शा0 19/70

42 गुणर्निवर्णनं चैव विलोभनमितिस्मृतम्। ना0शा0 21/71

43 सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते। ना0शा0 21/71

इनमें कृतियों की शुद्ध सत्वगुणमय परमपद प्राप्ति का वर्णन किया गया है। अतः यहां 'प्राप्तिः' नामक सन्ध्यङ्ग है कारण कि सुखार्थ अथवा मुख्यार्थ को प्राप्त करना ही 'प्राप्ति' कहा गया है।[44]

बीजार्थ का उपगमन 'समाधान' कहा जाता है।[45] प्रस्तुत श्लोक में 'समाधान' नामक सध्यङ्ग प्रदर्शित किया गया है-

स्वयमुपशमयन्ती स्वामिनः स्वैरलीलां।

स्वमतमिह दुहाना स्वादु पथ्यं प्रजानाम्।

नियतमियमिदानीमन्यदा वा भवित्री

निरवधि सुख सिद्धयै निष्प्रकम्पानुकम्पा।। सं0सू0 1/82

सुमति के कथन 'अपरिमितदरितमरितस्य जन्तोः दुःखसागरादुक्षारणावचनं बालजनसन्तोषवचनमिवोपच्छन्दनम्' के द्वारा मिले हुये सुख-दुःख रूप अर्थ प्रकाशन रूप से 'विधान' नामक सन्ध्यङ्ग दिखाया गया है।[46] इसे विभावन भी कहा जाता है।

आवध्नती विगत शान्तिमनादि निद्रां

चेतस्विनस्त्रिगुण शक्तिमयी त्रियामा।

नाथस्य केवलमसौ नरकान्त कर्तुः,

सङ्कल्पसूर्य विभवेन समापनीया।। सं0सू0 1/87

---

44 सुखार्थस्योपगमनं प्राप्तिरित्यभिसंज्ञितम्। ना0शा0 21/72

45 बीजार्थस्योपगमनं समाधानमपीष्यते। ना0शा0 21/72

46 सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम्। ना0शा0 21/73

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा अनुभूयमान अनादि संसार बन्धन विष्णु के सङ्कल्प मात्र से निवर्त्य होने के कारण एवं सुमति के कथन– 'आर्यपुत्र, अद्य खलु देवानां मुनानामपि परावर पुरुष विवेचने डोलापते चिन्ता। त्वया पुनः कथमेकस्मिन् पुरुषोत्तमे निष्ठा नियम्यते' के द्वारा कुतूहल एवं आश्चर्य प्रकट किया गया है। अतः यहां परिभावना[47] नामक मुख सन्धि है।

अपजन्मजरादिकाम समृद्धिं

कृपया संमुखयन्नशेष पुंसाम्।

पर दैवतपारमार्थ्य वेदी

परिगृह्णातु पराशरः स्वयं नः।। सं0सू0 1/91

उपर्युक्त श्लोक को द्वारा बीजार्थ का प्रकाशन रूप 'उद्भेद'[48] नामक मुख सन्धि का अङ्ग प्रस्तुत किया गया है।

सुमति के कथन 'आर्यपुत्र' अनुत्तरमेतदुत्तरम्। अन्य पुनरनन्तसाधननिगमान्तनिरूपण विलम्बमसहमानस्य त्वरमाणहृदयस्य चेतनस्य .... त्वां प्रार्थयामि[49] के द्वारा 'भेद'[50] नामक मुख सन्धि का अङ्ग प्रस्तुत किया गया है।

रिपुगण विजिगीषाविन्दु लेशोऽप्यसौ मे

मधु जिदनुजिघृक्षा वाहिनी वधितात्मा।

सफलयितुमघीस्टे साधु संप्लावयिस्यन्

यतिगण बहुमान्यं यत्नसंतान वृक्षम्।। सं0सू0 1/97

---

47 कौतूहलोत्तरावेगो भवेतु परिभावना। ना0शा0 21/73

48 बीजार्थस्य प्ररोहो य उद्भेदः स तुकीर्तितः। ना0शा0 21/74

49 सं0सू0 पृ0 183

50 संघातभेदनार्थो यः स भेद इति संज्ञितः ना0शा0 21/75

इस श्लोक के द्वारा 'करण'[51] नामक मुखसन्धि का अङ्ग प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि प्रस्तुत अर्थ का प्रारम्भ करना ही 'करण' कहा गया है। यहां पर प्रस्तुत श्लोक में 'रिपुगणविजिगीषा' इत्यादि के द्वारा 'आन्तरार्थ' आदि से कहे जाने वाले बिन्दु की ओर अर्थ का निर्देश करते हुए 'सफलयितुम घीष्टे' (सफल होऊंगा) से प्रकृतार्थ का आरम्भ सूचित किया गया है।

इस प्रकार 'सङ्कल्पसूर्योदय' के प्रथम अङ्क में बीज और आरम्भ समन्वयरूप मुख सन्धि अपने बारह अङ्गों के साथ प्रस्तुत की गयी है।

प्रतिमुख सन्धि में प्रयत्न अवस्था और बिन्दु अर्थप्रकृति का समन्वय रहता है। फलप्राप्ति को न देखते हुये भी फल प्राप्त करने के लिये उपायों का अन्वेषण करना प्रयत्न नामक अवस्था है।[52] प्रयोजन के विच्छिन्न हो जाने पर भी अविच्छिन्न रहने वाला फल प्राप्ति पर्यन्त प्रधान नायक गुणादि का अनुसन्धान बिन्दु अर्थप्रकृति है।[53]

इनके योग की स्थिति में जहां पर बीज कहीं नष्ट होता और कहीं प्रकट होता दिखाई दे वहां प्रतिमुख सन्धि होती है।[54] प्रतिमुख सन्धि के 13 अङ्ग हैं जो निम्नलिखित हैं- विलास, परिसर्प, विधूत, तापन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्ण-संहार[55]

---

51 प्रकृतार्थ समारम्भः करणं परिचक्षते। ना0शा0 21/74

52 अपश्यतः फलप्राप्तिं व्यापारो यः फलंप्रति। परं चौत्सुक्यगमनं स प्रयत्नः परिकीर्तितः।। भ0ना0 21/9

53 प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेद कारणम्। यावत्समाप्तिर्बन्धस्य सबिन्दुः परिकीर्तितः।। भ0ना0 21/22

54 बीजस्योद्घाटनं यतु दृष्टनष्टमिवक्वचित्। मुखेन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं भवेत्।। भ0ना0 21/38

55 विलासः परिसर्पश्च विधूत तापनं तथा। नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः।।
निरोधश्चैव विज्ञेयः पर्युपासनमेव च। पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार एव च।। भ0ना0 21/59,60

यहां पर प्रतिमुख सन्धि के साङ्ग निरूपण के लिये 'ततः प्रविशति'[56] इत्यादि के द्वारा पात्र का प्रवेश प्रस्तुत किया गया है। इसके अनन्तर प्रथम अङ्क में उपक्षिप्त पुरुष मोचन रूप बीज के उसके उपाय और उसके फलप्रद देवता की श्रेष्ठता दिखाने के कारण किञ्चित् लक्ष्य और परिपक्ष निरास की अपेक्षा के कारण किञ्चित् अलक्ष्य (नष्ट) रूप प्रकट करने के कारण यह प्रतिमुख सन्धि है। इसमें सेनापति[57] इत्यादि के द्वारा बिन्दु का उपक्षेप किया गया है, क्योंकि वह प्रतिद्वन्द्वी के आक्षेप से पुरुष मोचन रूप वस्तु के विच्छेद होने पर पुनः अविच्छेद का कारण है। 'कृत्याकृत्यप्रत्यवेक्षणेन'[58] से फलप्राप्ति को न देखते हुये उस पर विमर्शन के द्वारा 'स एष समय' इस उत्सुकतापूर्ण कथन से 'प्रयत्न' नामक अवस्था दिखाई गयी है। इस प्रकार 'बिन्दु' अर्थप्रकृति और 'प्रयत्न' अवस्था की समन्वित रूप प्रतिमुख सन्धि का निदर्शन हुआ।

प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अङ्ग 'विलास'[59] है। दृष्ट अर्थ विषयक इच्छा को 'विलास' कहते हैं। 'शमनियमतः परम'[60] में दुष्टार्थ रूप बीज का ईहात्मतया वर्णन होने के कारण विलास नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग निरूपित हुआ है।

---

56 सं0सू0 पृ0 207
57 सं0सू0 पृ0 207
58 सं0सू0 पृ0 207
59 समीहा रति भोगार्था विलास इति कीर्तितः।इसमें रति, भोग उपलक्षण है। इति ना0शा0 19/76
60 सं0सू0 पृ0 2/9

'सञ्चालितनिष्कम्पम'[61] के द्वारा 'परिसर्प' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग दिखाया गया हैं क्योंकि जो एक बार दृष्ट हो गया, किन्तु फिर दिखाई देकर नष्ट हो जाय और उसकी खोज की जाय तो वह 'परिसर्प'[62] कहलाता है। यहां पर राजा के कथन से प्रतिभटों के अन्धकार के समान व्याप्त होने और वृहस्पति को भी जड़ बना देने वाले बावदूकों के वर्णन से नष्ट बीज की खोज शिष्य (वाद) को सम्बोधित करके कहे गये गुह्य (सिद्धान्त) के निर्दिष्ट वाक्य से होती है।

प्रतिमुख सन्धि का तीसरा अङ्ग 'विधूत' है। भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में इसकी व्याख्या में कहा है कि अनुनय किये अर्थ को पहले स्वीकार न करना तथा बाद में स्वीकार कर लेना 'विधूत'[63] कहलाता है। कुछ लोग अरति (बीज के नष्ट होने पर दु:खित होकर लक्ष्य को अलक्ष्य मानकर उसकी इच्छा के त्याग) को विधूत कहते है।[64] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में 'कथमिदानी ं विजिगीष्यन्ते विपक्षवादिन:'[65] तथा विपक्षनिरसनम कुर्वाण:[66] के द्वारा अभीष्ट विपक्षमत निराकरण में अनिच्छा दिखाई गयी है। अत: इसमें 'विधूत' नामक अङ्ग है।

---

61 सं0सू0 पृ0 219

62 दृष्टनष्टानुसरणं परिसर्पस्तु वर्ण्यते ना0शा0 19/76

63 कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतं परिग्रह:। ना0शा0 21/77

64 विधूतं स्यादरति:। दशरूपकम् 1/33

65 सं0सू0 पृ0 224

66 सं0सू0 पृ0 225

नाट्यशास्त्र के अनुसार अपायदर्शन रूप 'तापन'[67] प्रतिमुख सन्धि का चौथा अङ्ग है। दशरूपकम् में तापन के स्थान पर 'शम' को अङ्ग माना गया है। शम का अर्थ है अरति का शमन।[68] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में

कुटिलमतिभिः क्लृप्ता वाद्यैः कुदृष्टिभिरप्यसौ

कथकपरिषद्धौरेयाणामपि क्षणकर्कशा।

प्रलपनगुणीभूतालीकप्रकाशनपत्रला

युवतिहृदयक्रूरा युक्तिर्युनक्त्यमितं भयम्।। सं0सू0 2/20

इसके द्वारा तापन एवं 'तदादिश्यतामयमन्तेवासी समीहित समर्थनाय सदस्यतिना महाराजन'[69] के द्वारा शमनामक अङ्ग प्रदर्शित किया गया है।

मोघप्रलाप मुखरदुन्दुभयः कलहकोलाहल कुतूहलिनः कथकाः,

श्वावराह कलहक्रमादमी संपतन्ति निगमान्तरोधकाः।

तानिमान्युगलवाद सिद्धये वारयत्वयमसौ चमूपतिः।। सं0स0 2/92

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा 'नर्म' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग प्रस्तुत किया गया है क्योंकि क्रीडार्थ किये गये हास्य[70] को या परिहास वचनों[71] को 'नर्म' कहा गया है। तथा प्रस्तुत श्लोक में श्ववराह के कलह से समता दिखाकर परिहास किया गया है।

---

67 अपायदर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्। ना0शा0 21/77

68 तच्छमः शमः। द0रू0 1/33

69 सं0सू0 पृ0 249

70 क्रीडार्थं विहितं यत्तु हास्यं नर्म तु संज्ञितम्।। ना0शा0 21/78

71 परिहासवचो नर्मः द0रू0 1/33

अहोनु खल्वचेरचरस्य यष्टिः प्रदीयते .... महामोह पक्षपातिनो गर्दभगाने सृगाल विस्मयमनुस्मारयन्ति[72] के द्वारा दूसरे पक्ष के दोष कथन की उपेक्षा करके परिहास किया गया है। इस कारण यहां 'नर्मद्युति' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है क्योंकि दोषों को ढकने के लिये जहां हंसी की जाती है[73] उसे नर्मद्युति कहते हैं।

नाट्यशास्त्रकार ने 'प्रगयण' नामक सन्ध्यङ्ग का वर्णन करते हुये बताया है कि जहां पात्रों में परस्पर उत्तरोत्तर वचन पाये जांय (जिनसे बीज का साहाय्य प्राप्त हो) वहां पर 'प्रगयण'[74] नामक सन्ध्यङ्ग होता है। इसको प्रगमन या प्रशमन भी कहते हैं। 'भगवन्नतिधृष्टोऽयम्[75] इत्यादि के द्वारा प्रगयण या प्रगमन का निरूपण होता है।

व्यसन सम्प्राप्ति को निरोध कहते हैं।[76] यहां व्यसन का अर्थ खेदमात्र या हितप्राप्ति में बाधा से है। प्रस्तुत नाटक में-

प्रधानपुरुषो यदि प्रकृतियन्तितैरादृतौ

परः किमपराध्यति श्रुतिसहस्र चूड़ामणिः।

कुतर्कशतकर्कशैर्यदि विभुः प्रतिक्षिप्यते

भवत्पारिगृहीतमप्यपहरन्तु पाटच्चराः।। सं0सू0 2/66

---

72 सं0सू0 पृ0 272, 73

73 दोष प्रच्छादनार्थ तु हास्यं नर्मद्युति स्मृतम्। ना0शा0 21/78

74 उत्तरोत्तर वाक्यं तु भवेत् प्रगमनं पुनः।। ना0शा0 21/79

75 सं0सू0 पृ0 275

76 या तु व्यसनसम्प्राप्तिः निरोधः स प्रकीर्तितः। ना0शा0 21/79

इसके द्वारा प्रधान और पुरुष के अनुभ्युपगम के कारण निरोध नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग प्रस्तुत किया गया है।

नायक इत्यादि के द्वारा किये गये किसी के अनुनय विनय को 'पर्युपासन' कहते है।[77] इस नाटक में पर्याप्ततोऽसि[78] इत्यादिक राजा के कथन से 'पर्युपासन' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग वर्णित किया गया है।

नाटक में 'पुष्प' नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग का वर्णन इस अग्रलिखित स्थान पर हुआ है- 'देव अपर इवायं पाराशर्मः पञ्चरात्रतन्त्रं प्रतिष्ठापितवान्[79] कारण कि जहां पर विशेष वचनों से बीज का प्रकाशन हो वहां पुष्प सन्ध्यङ्ग कहलाता है।[80]

यहां पर शिष्य को अपर व्यास कहकर, पञ्चरात्र तन्त्र का स्थापक कहकर बीज के पुष्पित होने की सूचना दी गयी है।

गाथा तथावातानाम्[81] तथा यदिभाष्कर यादवप्रकाशौ[82] इत्यादि रूखे वचनों का प्रयोग करके 'वज्र' नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग कहा गया है। कारण कि प्रत्यक्ष रूखे वाक्य को ही 'वज्र' कहते हैं।[83] उपपत्ति युक्त वाक्य या उपपत्ति

77 क्रुद्धस्यानुनयो यस्तु भवेत्पर्युपासनम्। ना0शा0 21/80

78 सं0सू0 पृ0 290

79 सं0सू0 पृ0 309

80 विशेषवचनं यत्तु तत्पुष्पमितिसंज्ञितम्। ना0शा0 21/80

81 सं0सू0 पृ0 2/89

82 सं0सू0 पृ0 2/93

83 प्रत्यक्षरूक्षं यद्वाक्यं तद् वज्रं इति संज्ञितम्। ना0शा0 21/81

प्रकट करने वाले अर्थ को 'उपन्यास' कहते हैं।[84] नाटक में निम्नलिखित श्लोक-

वंशवद वचोवृत्तिर्वादाहव महारथः।

परिभूत विपक्षोऽसौ पारितोषिकमर्हति।।

संoसूo 2/98

के द्वारा पारितोषिक दान में वंशवद इत्यादि के द्वारा उपपत्ति का वर्णन हुआ है। अतः यहाँ उपन्यास नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

चारों वर्ण जहाँ एक साथ एकत्रित हो 'वर्णसंहार' सन्ध्यङ्ग होता है।[85] यहाँ पर चातुर्वर्ण्य के पात्र उपलक्षित हैं। प्रस्तुत नाटक में 'सम्प्रयतामहे' के द्वारा वैरि बल निर्मूलन के लिये सबके प्रयत्न का वर्णन किया गया है। इस तरह प्रस्तुत सङ्कल्पसूर्योदय नाटक के दूसरे अङ्क में प्रतिमुख सन्धि के 13 अङ्गों का विधिवत वर्णन किया गया है।

तृतीय अङ्क से लेकर अष्टम अङ्क तक गर्भ सन्धि तथा उसके अङ्गों का वर्णन प्रस्तुत नाटक में हुआ है। प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कुछ लक्ष्य रूप में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है, उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना, विघ्नों के साथ प्रकट होना, पुनः नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही बार-बार अन्वेषण किया जाना गर्भ सन्धि कहलाती है।[86] प्रस्तुत नाटक में दृष्ट नष्ट पुरूष मोचन रूप बीच

---

84 उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासश्च स स्मृतः। नाoशाo 21/81

85 चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते। नाoशाo 21/82

86 उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च। पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः।। नाoशाo

का बार-बार अन्वेषण किया गया है। अतः मोह विजयावधि गवेषण होने के कारण तत्पर्यन्त (अष्टम अङ्क तक) गर्भ सन्धि दृष्टिगोचर हुई है।

गर्भ सन्धि में पताका, अर्थप्रकृति और प्राप्ति अवस्था का मिश्रण रहता है। परार्थ आया हुआ इतिवृत्त जो कि प्रधान का उपकारक होता है साथ ही प्रधान के समान कल्पित होता है। उसे पताका कहते है।[87] पताका व्यापिनी कथा होती है। इसमें पर भक्ति का सर्वत्र अनुवर्तन हुआ है। अतः उसी का पताका रूप में निरूपण हुआ है। प्राप्ति संभव अवस्था उस समय होती है जब फल की ईषत्प्राप्ति सम्भावित रहती है।[88] अथवा जहाँ उपाय और विघ्न की आशङ्का के कारण फलप्राप्ति के विषय में कोई ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता।[89] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में पुरूषमोचन रूप में फल की प्राप्ति सम्भावित ही रहती है, कोई निश्चय नहीं हो पाता है अतः इसमें गर्भसन्धि प्रयुक्त हुई है।

गर्भसन्धि के अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, सङ्ग्रह, अनुमान, प्रार्थना, आक्षिप्त, तोटक, अधिबल, उद्वेग और विद्रव तेरह अङ्ग होते हैं।[90]

21/39

87 यद्वृतं तु परार्थ स्यात् प्रधानस्योपकारकम्। प्रधानवच्च कल्प्येत् सा पताकेति कीर्तिता। ना0शा0 21/24

88 ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित्फलस्य परिकल्प्यते। भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम्।।ना0शा0 21/11

89 उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः। द0रू0 1/21

90 अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः। संग्रहश्चानुमानं च प्रार्थनाक्षिप्तमेव च।
तोटकाधिबले चैवहयुवचोद्वेगोविद्रवस्तथा।। ना0शा0 21/61, 62

गर्भ सन्धि के अङ्गों के रूप में पहला अङ्ग अभूताहरण है। नाट्यशास्त्रकार भरत ने कहा है कि जहाँ पर कपट के द्वारा प्राप्ति कराने की चेष्टा की जाय अथवा कपटपूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया जाय वहाँ अभूताहरण नामक गर्भ सन्ध्यङ्ग होता है।[91]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में चतुर्थ अङ्क के आदि में 'ततः प्रविशति कामों वसन्तश्च'[92] से लेकर 'स्वतः पुरूषार्थभूतं सुलोचनाभिघातं। ब्रह्म'[93] इत्यादि में अभूताहरण सन्ध्यङ्ग प्रयुक्त किया गया है। कारण कि परम आनन्द प्रदान करने वाली प्रजाओं की सृष्टि का हेतु[94] कहकर और श्रुति को तोड़-मरोड़कर[95] कपटोपाय से स्त्रियों को ही ब्रह्म सिद्ध किया गया है। इस सन्धि का द्वितीय अङ्ग 'मार्ग' है। इसकी परिभाषा में कहा गया है कि जहाँ निश्चित तत्व का (अर्थ प्राप्तिरूप तत्व का) कथन हो वहाँ 'मार्ग'[96] नामक सन्ध्यङ्ग होता है। सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में बसन्त के इस कथन -

श्रृणोति कथमत्यसो परिचिनोति संपृच्छते
समर्चयति गायति स्पृशति पश्यति स्तौति च।
इतीव नियतादरो मुरभिदंध्रि सेवारसे
न भेतुमिह शक्यते स्थिर विवेक दुर्गस्थितः।

---

91 कपाटापाश्रयं यत्तदभूताहरणं विदुः। भ0ना0 10/82
92 सं0सू0 पृ0 396
93 सं0सू0 पृ0 401
94 परमानन्द दायिन्यः प्रजानां सृष्टिहेतवः। ब्रह्मलक्षण लक्षण्या न कथं ब्रह्मायोषितः।। सं0सू0 4/8
95 स्त्रियों ब्रह्म उत वा पुमान् - इस श्रुति को 'स्त्रियों ब्रह्म' इति हि प्रथममामनन्ति। उत वा पुमान् इति तु वैभवोक्तिः रूप में प्रस्तुत किया है। सं0सू0पृ0 402
96 तत्वार्थ कथनं चैव मार्ग इत्यभिधीयते। ना0शा0 21/83

सं.सू. 4/36

के द्वारा विष्णु के सेवा रस में हमेशा तत्पर, स्थिर विवेक रूपी दुर्ग में स्थित पुरूष के समाधि भङ्ग में असमर्थता प्रकट करने के कारण पुरूष द्वारा भगवत्प्राप्ति तत्व का निश्चय सूचित होता है। इस कारण यहाँ पर 'मार्ग' नामक गर्भ सन्ध्यङ्ग है।

गर्भ सन्धि का तृतीय सन्ध्यङ्ग 'रूप' है। आचार्य भरत ने रूप के विषय में लिखा है कि जहाँ विचित्र अर्थ वाले वाक्यों में तर्क वितर्कमय वाक्यों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'रूप' होता है।[97] प्रस्तुत नाटक में असूया कथन जब लोग असीम गुणों वालें, निरवद्य राम में तारका-वध, बालिद्रोह, युद्ध में पीछे हटना आदि दोष निर्भय होकर सज्जनों की सभा में कहते हैं तो परिमित गुणों वाले अनेक दोषों से युक्त पुरूष के विषय में क्यों शान्त रहेगें।

निरवधि गुणग्रामे रामे निरागसि वागसि
स्फुरणमुषितालोका वदन्ति सदन्ति के।
वरतनहतिं वालिद्रोह मनागपसर्पण
परिमित गुणे स्पष्टावद्ये मुधा किमुदासते।।

(सं. सू. 5/39)

97 चित्रार्थसमवाये तु वितर्कोरूपमिष्यते। ना0शा0 21/83

इत्यादि श्लोक में 'रूप' सन्ध्यङ्ग का वर्णन किया गया है क्योंकि इसमें यह तर्क किया गया है कि यदि लोग राम में दोष दिखाते हैं तो साधारण पुरूष में क्यों नहीं दिखायेगें।

अतिशय या उत्कर्ष से युक्त वाक्य 'उदाहरण' सन्ध्यङ्ग कहलाता है[98] यथा-सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में कृपणों से प्रशंसित लोभ विवेक के कारण अपने शरीर में भी (धन, स्त्री पुत्रादि की क्या बात) निस्पृह बुद्धि वाले पुरूष का क्या कर सकता है,

'पुरूषस्य विवेक विप्रलम्भात् स्वशरीरऽपि विरज्यमान बुद्धे।

कृपणप्रति नन्दनीयवृत्तिः किमिवालम्बनमाश्रयत् लोभः।।'

(सं.सू. 5/62)

उपर्युक्त श्लोक द्वारा पुरूषोत्कर्ष का वर्णन हुआ है। इसलिये यहाँ 'उदाहरण' नामक गर्भ सन्ध्यङ्ग है।

गर्भ सन्धि का पञ्चम अङ्ग 'क्रम' है। जहाँ भाव्यमान वस्तु की भावनादि के बल से अथवा परमार्थतः उपलब्धि हो जाती है, वहाँ क्रम नामक सन्ध्यङ्ग होता है।[99] प्रस्तुत नाटक में इस श्लोक द्वारा इसका अवलोकन किया जा सकता है -

संसारावर्त वेग प्रशमन शुभ दृग्देशिक प्रेक्षितोऽहम्

संत्यक्तोऽन्यैरूपायैरनुचित चरितेष्वद्य शान्ताभि सन्धिः।

निश्शङ्कस्तत्वदृष्टया निरवधिकदयं प्रार्थ्यसंरक्षकं त्वां

---

98 यत्तुसातिशयंवाक्यं तदुदाहरणं स्मृतम। ना0शा0 21/84

99 भावतत्वोपलब्धिस्तु क्रम इत्यभिधीयते। ना0शा0 21/84

न्यस्यत्वत्पादपद्मे वरदनिजभरं निर्भरो निर्भयोऽस्मि।।

(सं.सू. 6/74)

अर्थात् विवेक के कथन 'अन्य' उपायों से रहित मैं निरवधिक दयावाले आपका संरक्षण प्राप्त करके, आपके पाद पद्मों में अपना भार समर्पित करके भाररहित एवं निर्भय हो गया हूँ। इसमें साङ्गप्राप्ति की उपलब्धि वर्णित हुई है। अतः यहाँ क्रम नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है।

अगला गर्भ सन्ध्यङ्ग 'सङ्ग्रह' है। इसका लक्षण बताया गया है कि जहाँ नायकादि अनुकूल आचरण करने वाले पात्र को साम या दान से प्रसन्न करें वहाँ साम दान की उक्ति 'सङ्ग्रह'[100] कहलाती है। प्रस्तुत नाटक में निम्नलिखित श्लोक द्वारा इसे समझा जा सकता है –

तदत्रभवपुर्ज्वरज्वलन जन्म भूमौ त्वया।

दिहक्षणमितः परं दृढ़विलक्षया त्यज्यताम्।।

(सं.सू. 7/9)

अर्थात् सुमति के प्रति विवेक का यह समझाना कि अशुद्ध सृष्टि के विषयों को देखने की इच्छा छोड़ दो इत्यादि में ' सङ्ग्रह' नामक गर्भ सन्ध्यङ्ग है।

गर्भ सन्धि का सप्तम अङ्ग 'अनुमान' है। नाट्यशास्त्र में अनुमान का लक्षण इस प्रकार वर्णित है- जहां प्रत्यक्षादि से उपलभ्यमान सामग्री (लिङ्ग) के

---

100 सामदानादिसम्पन्नः संग्रहः स तु परिकीर्तितः। ना0शा0 21/85

द्वारा एक निश्चय पर पहुंचा जाय वहां अनुमान सन्ध्यङ्ग होता है[101] प्रस्तुत नाटक में लम्गी की मूर्ति देखकर सुमति से विवेक के इस कथन में कि 'तुममें और लक्ष्मी में कोई अन्तर न प्रतीत होता यदि चलते समय तुम्हारे नूपुरों से मधुर ध्वनि न निकलती होती' नूपुरों के समान जान हेतु से मूर्ति और सुमति में भेद 'अनुमान' नामक सन्ध्यङ्ग है।

सेवाकृतिस्त एव गुणानुभावा: स्यादेव सागर सुतालिखितात्वमेव।

शिंजानमंजु मणि नूपूरमेखलस्ते सञ्चार एष चतुरोयदि नान्तराय:।।

(सं0सू0 7/26)

गर्भ सन्धि का अष्टम अङ्ग 'प्रार्थना' है। इसके लिये भरतमुनि ने कहा है कि जहां पर रति, हर्ष उत्सव की प्रार्थना की जाती है वहां प्रार्थना नामक सन्ध्यङ्ग होता है[102]

प्रस्तुत नाटक में इसे वर्णित होते देखा जा सकता है-

साधारणेये सत्यपि स्वेच्छयैव द्वेधा विश्वं यद्विभूतिर्व्यभाजि।

चूडाभागे दीप्यमानौ श्रुतीनां दिव्यावेतौ दम्पति मे देयताम्।।

(सं0सू0 7/27)

अर्थात् लक्ष्मी और विष्णु की मूर्ति को देखकर विवेक अपने ऊपर दया करने की प्रार्थना करता है। भगवान की कृपा से ही सभी हर्ष, उत्सव आदि प्राप्त होते हैं। अत: यहां दया के लिये की गयी याचना प्रार्थना नामक सन्ध्यङ्ग है।

---

101 रूपानुरूपगमनमनुमानमिति स्मृतम् । ना0शा0 21/85

102 रति हर्षोत्सवाद्यर्थ प्रार्थना भवेत्। ना0शा0 21/86

गर्भ सन्धि का 'तोटक' नामक सन्ध्यङ्ग के विषय में वर्णन किया गया है कि संरम्भ वचन को तोटक कहते हैं।[103] संरम्भ का अर्थ है आवेगपूर्ण वचन। यह आवेग हर्ष, क्रोध या अन्य किसी कारण से हो सकता है। सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में हिरण्यकश्यप का प्रहलाद के प्रति आक्षेप 'क्व नुते पुरूषोत्तम:'[104] तोटक नामक सन्ध्यङ्ग का उदाहरण है, क्योंकि उसका यह कथन क्रोध एवं अमर्ष के कारण प्रयुक्त हुआ है।

दशरूपक के अनुसार तोटक के अन्यथाभाव (उलटा) को विद्वान् लोग 'अधिबल'[105] सन्ध्यङ्ग कहते हैं। धनञ्जय के अनुसार क्रुद्ध वचन तोटक है। इस कारण क्रुद्ध वचन का उलटा विनीत व दीन वचन अधिबल है। सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में भगवन् 'धन्या: खलु वयमिदानीं संवृता:'[106] इत्यादि महामोह के कथन से गर्भ सन्धि का अधिबल नामक अङ्ग प्रस्तुत किया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार कपट से किये गये अतिसन्धान (वञ्चना) को अधिबल कहते हैं।[107] प्रस्तुत नाटक में नारद के स्वगत कथन–

'मूढ़ा स्वभवाऽसौ विश्वमपि विपरीतं कल्पमति' के अनन्तर कपटपूर्ण वाक्यों से महामोह की प्रशंसा 'महाराजत्वमेव खल्वद्भुत:। यदुत पुष्कर पलाश वन्निर्लेप स्वभावं पुरूषमनन्तामन भोगाननुभावयसि'[108] इत्यादि रूप में करके उसे

---

103 संरम्भवचनं चैवतोटकं संज्ञितम् । ना0शा0 21/87

104 सं0सू0 पृ0 640 आड्यार ला सीरिज

105 कपटेनातिसन्धानं ब्रुवतेऽधिबलं बुधा:। ना0शा0 21/87

106 सं0सू0 पृ0 675

107 तोरकरयान्यथा भावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधै:। ना0शा0 21/87

108 सं0सू0 पृ0 677

उद्दीप्त (भड़काया) किया गया है। अतः यहां अधिबल नामक गर्भ सन्ध्यङ्ग है।

राजा, शत्रु या दस्यु से उत्पन्न हुआ भय 'उद्वेग' नामक सध्यङ्ग है।[109] प्रस्तुत नाटक में महामोह के कथन 'प्रिये, विपक्ष प्रतार्यमाण पितरमनुचिन्त्य भृशं द्वये।'[110] इत्यादि के द्वारा शत्रु (विवेक) कृत भय प्रकट होता है कि पुरूष न जाने किस अवस्था में होगा। अतः यहां गर्भ सन्धि का उद्वेग नामक अङ्ग का वर्णन हुआ है।

गर्भसन्धि के 'विद्रव' नामक अङ्ग का वर्णन करते हुये नाट्यशास्त्रकार ने कहा है कि जहां पात्रों में शङ्का या भय का सञ्चार हो वहां विद्रव नामक सन्ध्यङ्ग होता है।[111] धनञ्जय ने अपने दशरूपक में विद्रव को सम्भ्रम कहा है।[112] सङ्कल्पसूर्योदय में क्षमा से प्रशमितकोप न जाता है, न ठहरता है और लज्जित होकर खड़ा रहता है।[113] साथ ही कभी न लौटने वाले को पीछे खिसका रहा है[114] के द्वारा विद्रव या सम्भ्रम का वर्णन किया गया है, क्योंकि क्रोध की यह दशा भयकृत ही है।

---

109 भयं नृपारिदस्यूत्थमुद्वेगः परिकीर्तिः। ना०शा० 21/88

110 सं०यू० पृ० 686

111 शंकाभयत्रासकृतो विद्रवः समुदाहृतः। ना०शा० 21/89

112 शंकात्रासौ च सम्भ्रमः। द०रू० 1/42

113 अयमिहक्षमया दलितः क्षणात्प्रतिमुखे परामुखवद्भवम्।
नरवलु यातिन तिष्ठति च हिया भवति सप्रतिथः परः सं.सू. 8/74

114 अपरावर्त्यपि कोपः पश्चादाकृष्टपाद इव माति। सं.सू. 8/74

गर्भ के उद्भेदन को आक्षिप्ति कहते है।[115] इसी को कुछ लोगों ने आक्षेप कहा है। और जहाँ गर्भ एवं बीज अथवा गर्भ के बीज का उद्भेद हो तथा बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाय, उसे आक्षिप्ति कहते है।[116] प्रस्तुत नाटक में वीर अग्रगण्य महामोह युद्ध में विवेक से अपूर्ण विपत्ति प्राप्त करता है।

निखिलसुभट श्लाघारेखाविलङ्घन जाङ्घिको
निरवधिबलो मोहः क्रीडन्ननुत्तरेण रणे।
विविध निगमग्रामस्थेयाद्विवेक महीभृतो
विपदमधुना वीरादस्मादिदंप्रथमां गतः।।

(सं. सं. 8/101)

इस श्लोक के द्वारा आक्षेप नामक सन्ध्यङ्ग प्रस्तुत किया गया है।

इस मोह विजय से पुरूष मोचन रूप बीज को प्रकट किया गया है क्योंकि यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि मोह के पराजित हुये बिना पुरूष को मुक्त नहीं किया जा सकता है। इस तरह सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में साङ्गोपाङ्ग गर्भ सन्धि का निरूपण प्रस्तुत किया गया।

अब नाटक में विमर्श सन्धि पर विचार किया जायेगा। जहाँ गर्भ सन्धि के द्वारा प्रकट किये गये बीज फल की प्राप्ति के लिये विलोमन (लोभ), क्रोध या व्यसन से विचार किया जाय। वहाँ विमर्श सन्धि होती है।[117] यह नियताप्ति

---

115 गर्भस्योद्भेदनं यत्तु तदाक्षिप्तमिति स्मृतम। ना0शा0 21/87

116 गर्भबीज समुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः। द0रू0 1/42

117 गर्भनिर्भिन्न बीजार्थो विलोभनकृतोऽपिवा। क्रोध व्यसनजो वापि विमर्श स इति स्मृतः। ना0शा0

अवस्था एवं प्रकरी अर्थप्रकृति के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है जब विघ्नों के अभाव के कारण फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो नियताप्ति नामक अवस्था होती है।[118] जहाँ पर केवल परार्थ फल का अनुष्ठान किया जाता है और वह कथा अनुबन्ध विहीन (एक प्रदेश तक सीमित) होती है वहाँ प्रकरी नामक अर्थप्रकृति होती है।[119] नवम अङ्क में 'अविद्या कर्म संज्ञा तुमृतसञ्जीवनी स्थिता' इत्यादि द्वारा कर्मनाम्नी अविद्या द्वारा निरस्त कर्म को पुनः उद्‌बुद्ध करके पुरूष में सत्कार प्राप्ति के प्रति राग तथा तिरस्कार के प्रति क्रोध उत्पत्ति फल का निबन्धन करने के कारण प्रकरी का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत नाटक के नवम अङ्क में (मोह के पराजित हो जाने से) पुरूषमोचन रूप फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है किन्तु व्यसनादि कारणों से उसका पुनः परामर्श किया गया है। अतः यहाँ पर विमर्श सन्धि है। नियताप्ति और प्रकरी के सन्धानार्थ अपवाद, संफेट (संमेद) विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसङ्ग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान नामक तेरह अङ्ग[120] विमर्श सन्धि में प्रयुक्त होते हैं। 'अपवाद' विमर्श सन्धि का प्रथम अङ्ग है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण करते हुये लिखा है कि जहाँ पर दोष का

21/40

118 नियतां तु फलप्राप्ति यदाभावेन पश्यति। नियतां तां फलप्राप्ति सगुणां परिचक्षते।। ना0शा0 21/22

119 फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैवकेवलम्। अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत्। ना0शा0 21/24

120 तत्रापवाद संफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः। द्युति प्रसंगश्छलनं व्यवसायों विरोधनम्।।
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।। द0रू0 1/44

प्रख्यापन किया जाता है, वहाँ अपवाद नामक विमर्श सन्ध्यङ्ग होता है।[121] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में -

करण हरिण श्रेणीदूरापकर्षण दारूणाम्
कलुषतपनस्फायन्माया निदाघविजृम्भिताम्
विषमविषयास्वादोत्कण्ठामयीं मृगतृष्णकां
मुनिरतिपतन्मुक्ति द्वारां गवेषयते मुहुः।।
सं. सू. 9/10

उपर्युक्त श्लोक द्वारा विषयास्वादाभिलाष के लिये मृगतृष्णिका कहे जाने के कारण दोष का प्रख्यापन हुआ है। अतः अपवाद नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग कहा गया है।

विमर्श सन्धि का दूसरा अङ्ग संफेट है। रोष युक्त वाक्य अथवा बातचीत को संफेट कहा जाता है।[122] प्रस्तुत नाटक में इसके लिये

अहित निवहवन्या हन्त सन्तन्माना
कथमियमपचेतुं कल्पकोट्यापि शक्या।
लदहति निरवशेषं देव सम्भूतिरेनां
युगपदिह समिद्धौ योगकल्पान्त वह्निः।।
सं.सू. 9/18

यह श्लोक है जिससे विवेक के कथन 'करोड़ों कल्पों में भी पाप से बढ़ती हुई कर्मविद्या को दूर करना सम्भव नहीं है।' इसे भगवत्कृपा से उत्पन्न

121 दोष प्रच्छादनार्थं तु हाहयं नर्मद्युति स्मृतम्। ना0शा0 21/79
122 रोषग्रथित वाक्यं तु संफेटः स उदाहृतः। ना0शा0 21/91

योग कल्पान्त वह्नि ही निरवशेष भस्मसात् करती है, के द्वारा रोष प्रकट होता है। इस कारण यहाँ पर संफेट नामक सन्ध्यङ्ग है।

विमर्श सन्धि का तीसरा अङ्ग 'विद्रव' है जहाँ पर वध या बन्धन का वर्णन हो वहाँ विद्रव नामक सन्ध्यङ्ग होता है।[123] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में काम, क्रोध, लोभ, मोह को जीत लेने के बाद संसार रूपी कारागार में पड़े पुरूष के द्वारा शरीर क्षीण किये जाने का जो वर्णन किया गया है, उसमें विद्रव नामक सन्ध्यङ्ग है, क्योंकि पुरूष को संसार नामक कारागार से बंधे होने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है -

कामातंकमतीत्य कोपदहनं निर्वाप्य वित्तस्पृहा

वेतालीं व्यवधूय बान्धवकथागर्त समुत्तीर्यच

सङ्गोत्तसितवासना सहचरः संसारकाराकुटी

निष्क्क्रान्ति क्रमपादुकां तनुमनुद्विग्नो मुनिः क्षाम्यति।

सं. सू. 9/26

विमर्श सन्धि का चतुर्थ अङ्ग 'द्रव' है जिसके विषय में कहा गया है कि जिस जगह पर श्रेष्ठ लोगों का तिरस्कार हो वहाँ द्रव नामक सन्ध्यङ्ग होता है।[124] द्रव को आचार्य भरतमुनि ने व्यतिक्रम कहा है।[125] तत्वज्ञानादि हो जाने पर भी पुरूष में विद्यमान सूक्ष्म वासना दूसरों से अपमानित होने पर समाधिकों को चञ्चल बना देती है -

---

123 विद्रवो वधबन्धादिः द0रू0 1/45

124 द्रवोगुरूतिरस्कृतिः। द0रू0 1/45

125 गुरूव्यतिक्रमो यस्तु विज्ञेयोऽभिद्रवस्तु सः।। ना0शा0 21/91

तत्वज्ञाने विशुद्धे शमयति दुरितारम्भमात्मावधाने

व्यक्ताकृष्टेतराक्षे विरमति चमनोवानरे चापलात्स्वात्

भस्मच्छत्राग्निकल्पः परपरिभवनाद्यागमे दीप्यमानः

श्लक्ष्णः संसार सारस्तर लपति शनैरूज्जिहानसमधिम्।।

सं.सू. 9/13

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक के इस अंश में 'द्रव' नामक सन्ध्यङ्ग है। क्योंकि यहाँ पर विद्धान् के परिभव का कथन हुआ है।

विमर्श सन्धि का पञ्चम अङ्ग 'शक्ति' है। विरोध का शान्त हो जाना 'शक्ति' है।[126]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में विष्णु भगवान पर अपनी रक्षा का भार रखकर यह पुरूष मुक्त के समान शास्त्र मार्ग का अनुसरण करता है -

मुकुन्दे निक्षिप्य स्वभरमनद्यो मुक्तवदसो

स्वतन्त्रताज्ञासिद्धां स्वयमविदित स्वामिहृदयः

परित्यागे सद्यः स्वपर विविधानर्थ जननाद्

लघयमामोक्षादनुसरति शास्त्रीय सरणिम।।

सं.सू. 19/20

इस श्लोक के द्वारा पुरूष के सभी विरोधों का शान्त होना प्रदर्शित किया गया है। यहाँ शक्ति नामक सन्ध्यङ्ग है।

---

126 विरोधिप्रशमो यस्तु सा शक्तिः परिकीर्तिता। ना० शा० 21/92

विमर्श सन्धि का षष्ठ अङ्ग 'द्युति' है। धमकी उद्वेग अथवा तिरस्कार से युक्त वाक्य द्युति कहलाता है।[127] प्रस्तुत नाटक में भूयोभूयः स्वचक्रे भ्रमयति नृपशुं गाढ़बन्धोपरूद्धं, इत्यादि से काल द्वारा जीव के उद्वेजन की प्रतीति होती है। अतः द्युति नामक सन्ध्यङ्ग है।

'प्रसङ्ग' विमर्श सन्धि का सप्तम अङ्ग है। नाट्यशास्त्रकार ने कहा है कि - जहाँ श्रेष्ठजनों का संकीर्तन होता है उसे प्रसङ्ग कहते है।[128] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में 'नूनं नारदेन भगवत् भवितव्यम्। न हिअन्यस्य कस्यचित् आम्रेडित श्वेतद्वीपदेवता द्वैतमेतादृशं तेजः'[129] इत्यादि के द्वारा देवर्षि नारद के गुणों का परिकीर्तन हुआ है। अतः यहाँ प्रसङ्ग सन्ध्यङ्ग है।

विमर्श सन्धि का अष्टम अङ्ग 'छलन' या छल है। दशरूपककार ने लिखा है कि जहाँ किसी की अवज्ञा या अपमान किया जाता है वहाँ छलन होता है।[130] नाट्यशास्त्रकार ने इसी को छादन[131] की संज्ञा दी है। प्रस्तुत नाटक में पुरूष द्वारा कालयापन पर क्षुद्र मन्त्रों से मन हटाकर भगवान मन्त्रों से सन्तोष प्राप्ति के वर्णन द्वारा क्षुद्रफल प्रद मन्त्रों के प्रति अवज्ञा प्रकट की गयी है, अतः यहाँ छलन नामक सन्ध्यङ्ग है।

प्रत्यक्तत्व सतत्ववेदनसुखप्रत्यूह सिद्धिप्रदैः

क्षुद्रै केवलकालयापन परैन्यैरनाकृष्टघीः।

---

127 वाक्यमाधर्ष संयुक्तं द्युतिस्तेज्ज्ञैरूदाहृता। ना०शा० 21/93

128 प्रसंगश्चैव विज्ञेयो गुरूणां परिकीर्तनम्। ना०शा० 21/92

129 सं.सू. पृ० 776 अडयारला. सीरिज

130 छलनं चावमाननम्। द०रू० 1/46

131 कार्यार्थमपमानादेः सहनं छादनं भवेत्। ना० शा०। 21/94

मुक्तिद्वारक वारिकाविघटनध्वनि प्रति श्रन्निमै

रध्यक्षीकृत सत्वथैर्मुनिरसौ मन्त्रैर्घृतिम विन्दति।।

सं. सू. 9/25

'व्यवसाय' विमर्श सन्धि का नवम अङ्ग है। धन्ञ्जय ने इसका लक्षण किया है। जहाँ पर शक्ति अथवा सामर्थ्य का कथन है वहाँ व्यवसाय नामक सन्ध्यङ्ग होता है।[132]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में -

पृथक् तरूणप्रायावस्थाव्यवस्थित सञ्चया

बहुल निगमप्रत्या दृष्टा बहिर्मुख वासना।

पटुतरदृढ़प्रत्याहार क्रियापरि पवित्रमा

ज्वलतिमहति ज्योतिष्यन्तर्लयं प्रतिपत्स्यते।।

सं.सू. 9/24

आदि से प्रत्याहार सामर्थ्य कथन द्वारा व्यवसाय नामक सन्ध्यङ्ग कहा गया है।

'विरोधन' विमर्श सन्धि का दशम अङ्ग है। जहाँ पर संरम्भोक्ति होती है वहाँ विरोधन नामक विमर्श सन्ध्यङ्ग होता है।[133]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में -

सिद्धप्रायसमीहितस्य वितथोदर्के वितर्कः पुनः

स्थूललाम्यूहवि संस्थूल स्थितिमतामत्के चमत्कारिणः।

दूरीकृत्य बलात्वया रिपुचमूदुर्वीर दवीर्करान्

---

132 व्यवसायः स्वशक्तयुक्तिः। द0रू0 1/47

133 संरब्धानां विरोधनम्। द0रू0 1/47

किंचिन्यूनमनोरथेन कृतिना किं नाम संचिन्त्यते।।

सं.सू. 9/28

इसके द्वारा संरम्भ की प्रतीति होने के कारण 'विरोध' सन्ध्यङ्ग प्रस्तुत किया गया है।

विमर्श सन्धि का ग्यारहवाँ अङ्ग 'प्ररोचना' है। दशरूपक में इसके लक्षण में कहा गया है – जहाँ पर सिद्धप्राय भावी घटना की सूचना दी जाय वहाँ प्ररोचना नामक सन्ध्यङ्ग होता है।[134] नाट्यशास्त्र में इसे संहृयमाण अर्थ को प्रकट करने वाली कहा गया है।[135] प्रस्तुत नाटक में

स्वपोद्बोधव्यतिकरनिमे भोग मोक्षान्तराले

कालं किंचिज्जगति विधिना केनचित् स्थाप्यमाना:।

तत्त्वोपाय प्रभृति विषये स्वामिदत्तां स्वनिष्ठां

शेषां कृत्वा शिरसिकृतिन: शेषमायुर्नयन्ति।। सं0सू0 9/27

इस श्लोक द्वारा भावीपुरुषार्थ दर्शन की दृढ़ता से सूचना मिलती है, अत: प्ररोचना है।

'विचलन' विमर्श सन्धि का बारहवां अङ्ग है। दशरूपक में धनञ्जय ने इसके लक्षण में कहा है कि गुणों के आविष्करण या आत्मश्लाघा को विचलन कहते हैं।[136] प्रस्तुत नाटक में आत्मश्लाघा तो नहीं की गई, किन्तु व्यवसाय

---

134 सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना। द0रू0 1/47

135 प्ररोचना च विज्ञेया संहारार्थ प्रदर्शिनी। ना0शा0 21/96

136 विकत्थना विचलनम्। द0रू0 1/48

द्वारा पुरुष के गुणों का आविष्करण निम्नलिखित श्लोक में किया गया है, इस कारण यहां विचलन सन्ध्यङ्ग है-

त्रृणक्षोदं क्षेप्तुं प्रलयपवनो न प्रभवति-

क्षमस्तन्निर्दग्धुं यदनर्भिमतौ कालदहनः।

तदर्वाचः सर्वानजहदवधिद्वन्द्वनियमान्

विदन्नासौ तृप्यत्त्यथ च न विषादे निपतति।। सं0सू0 9/47

'आदान' नामक सन्ध्यङ्ग विमर्श सन्धि का तेरहवां और अन्तिम अङ्ग है। दशरूपककार धनञ्जय ने आदान के विषय में वर्णन करते हुये लिखा है कि जहां रूपक की वस्तु के कार्य को संग्रहित किया जाता है अर्थात् समेटने की चेष्टा की जाती है वहां आदान सन्ध्यङ्ग होता है।[137] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में-

षडंगमथवाष्टाङ्गं समाधिमधिरोक्ष्यतः।

अवलम्बनमक्षुद्रय दयैका दानवद्रुहः।। सं0सू0 9/44

इत्यादि विवेक के कथन द्वारा विष्णु की दया ही अवलम्बन है कहकर कार्य को संग्रहित किया जाता है अतः आदान नामक सन्ध्यङ्ग है।

इस तरह विमर्श सन्धि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अनेक रूपों में बिखरे रहते हैं, उन्हें जब एकत्रित किया जाता है तब निर्वहण सन्धि होती है। इसमें कार्य अर्थप्रकृति और फलागम नामक अवस्था का सम्बन्ध स्थापित

---

137 आदानं कार्य संग्रहः। द0रू0 1/47

किया जाता है। जब आधिकारिक वस्तु का अच्छी तरह प्रयोग किया जाता है तो तदर्थ किये गये प्रयास को कार्य अर्थप्रकृति कहते हैं।[138]

फलागम अवस्था वहां होती है जब इतिवृत्त में समग्र अभिप्रेत वस्तु के अनुरूप कार्य का फल प्राप्त होता है।[139] यहां पर बैकुण्ठ दास्यादि परभक्ति व्यापार के द्वारा मुख सन्ध्यादि में आरब्ध निःश्रेयस रूप फल की प्राप्ति के निर्वाह किये जाने के कारण भेदों के सहित निर्वहण सन्धि का निरूपण किया गया है। निर्वहण सन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं- सन्धि, निरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार और प्रशस्ति।[140]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक के दशम अङ्क में अङ्ग सहित निर्वहणसन्धि का वर्णन हुआ है। इसलिये उसके प्रत्येक अङ्ग पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

निर्वहण सन्धि का प्रथम अङ्ग 'सन्धि' है। जब मुख सन्धि में वर्णित बीज की उद्भावना की जाती है तो वह सन्धि नामक निर्वहण का अङ्ग होता है।[141] इस नाटक में विष्णु भक्ति के कथन यदि मुझमें दृढ़ निष्ठा है तो पुरुष को मुक्त होने के लिये क्या कहना है-

निरूध्य तरसा मरूत्करणमण्डलीं कुण्डलीं

---

138 यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते। तदर्थे यः समारम्भस्तत्कार्य परिकीतिर्तम्।। ना0शा0 21/25

139 अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्। इतिवृत्रे भवेद्यस्मिन् फलयोगः प्रकीर्तितः।। ना0शा0 21/12

140 सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्। प्रसादानन्द समयाः कृतिभाषोयगूहनः।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश।। द0रू0 1/49,50

141 मुखबीजोपगमनं सन्धिरित्यभिधीयते।। ना0शा0 21/97

विचिन्त्य विगणय्यवा धमनिधातुमर्मादिकम्।

किमत्र निगमत्रयस्थितमतापि लालभ्यते

मयि स्थितिरवस्थिता यदि किमुच्यते मुच्यते।। सं0सू0 10/3

इस श्लोक के द्वारा पुरूषमोचन रूप बीज के उपागम (उद्‌भावना) का कथन होने से 'सन्धि' नामक अङ्ग है।

निर्वहण सन्धि का दूसरा अङ्ग 'निरोध' है। आचार्य भरत मुनि के अनुसार जब छिपे हुये कार्य की युक्ति पूर्वक खोज की जाती है तो उसे निरोध कहते हैं।[142] इसी को आचार्य धनञ्जय ने 'विबोध' कहा है।[143] प्रस्तुत नाटक में नष्ट ज्ञान पुरूष के सभी पापों को विष्णुविषयक समाधि तत्काल समाप्त कर देती है। उसके पश्चात् समाधि अनुष्ठान फल का साधन है या फल है यह वितर्क व्यर्थ है-

मुमुक्षुत्वे सिद्धं मुषितमतिमोहस्य मुरभि-

त्समाधिः संरोहन्नुपहरति सर्वाघविरतिम्।

परस्तादास्थेयं यदिह विदुषानिष्टजनुषा

फलार्थ तत्किंवा फलमिति वितर्कः श्रमफलः।। सं0सू0 10/4

इस श्लोक द्वारा वितर्क से बीज रूप कार्यान्वेषण की प्रतीति होने से निरोध सन्ध्यङ्ग कहा गया है।

---

142 कार्यस्यान्वेषणं युक्त्या विरोध इतिकीर्तितः ना0शा0 21/98

143 विबोधः कार्य मार्गणम्। द0रू0 1/51

निर्वहण सन्धि का तीसरा अङ्ग 'ग्रथन' है। समस्त कार्यो का एक स्थान पर उपसंहार (उपक्षेप) ग्रथन कहलाता है।[144] प्रस्तुत नाटक में हेयप्रत्यनिक कल्याणगुणैकतानरत्न राशि से पूर्ण चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मसागर में पुनः अन्यत्र (संसार) मज्जन (जन्म) न करने के लिये गोता लगता है।

स्वतः सिद्धस्वच्छस्थिरमधुरचिन्तासुरसरि-

त्प्रवाहोपशिलष्टातप्रणिधिमुखभागादवतरन्।

चिदानन्दोदन्वत्यनधगुणरत्नौधभरिते

निमज्जत्यन्यस्मिन्नयमपुनरून्मज्जनमिह।। सं0सू0 10/9

इस कथन से निमज्जति (डुबकी लगाना) से पूर्वोक्त कार्य का एक स्थान पर स्थापन हुआ है। अतः यहां ग्रथन नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।

निर्वहण सन्धि का चतुर्थ अङ्ग 'निर्णय' है। नाट्यशास्त्रकार ने इसके विषय में लिखा है कि जब अनुभूत अर्थ का वर्णन किया जाता है तब 'निर्णय' सन्ध्यङ्ग होता है[145] प्रस्तुत नाटक में-

त्रिभुवनमिदं शान्तक्षोभं समाधिरनाकुलः

प्रसृमरसुधाधाराकार प्रसीदति शेमुषी।

स्फुरति चमुहुदृष्टिः सव्या तदप्युपरिस्फुटं

तदिह महतीं सिद्धिं मन्ये झटित्युपतस्थुषीम्।। सं0सू0 10/11

144 उपक्षेपस्तु कार्याणां ग्रथनं परिकीर्तितम्। ना0शा0 21/98

145 अनुभूतार्थकथनं निर्णयः समुदाहृतः। ना0शा0 21/98

इस श्लोक द्वारा यह बताया गया है कि त्रिभुवन उपद्रव रहित हो गया है। समाधि में आकुलता नहीं है इत्यादि अनुभूत अर्थो के कथन द्वारा 'समुस्थित नै: श्रेयसी सिद्धिं, सूचित की गई है। इस कारण प्रस्तुत श्लोक में निर्णय नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग है।

'परिभाषण' निर्वहण सन्धि का पञ्चम अङ्ग है। दशरूपककार ने इसका लक्षण किया है कि आपस की बात-चीत को परिभाषा या परिभाषण कहा जाता है।[146] अर्थात् जब एक साथ कई कार्यो का या कई पात्रों द्वारा कथन होता है तो वह परिभाषण है। प्रस्तुत नाटक में श्रीनिवास भगवान की अनुकम्पा से ही देवों को पद, राजाओं को भोग, आश्रितों को वैराग्य तथा मोक्ष प्रदता का एक साथ वर्णन हुआ है। इस कारण यहां परिभाषण नामक सन्ध्यङ्ग है।

त्वद्दृष्टया सकृदीक्षिता दिविषद: स्वं स्वं पदं भुञ्जते

भोगानत्र च भूभुजामभिमतान् पुष्णासि तृष्णाधिकम्।

किंचोदंचदनुग्रहा कृपणतामालक्ष्य वैलक्ष्यतो।

नैराश्यप्रमुखानि सौति भवती निर्वाणपर्वाण्यपि।। सं0सू0 10/15

निर्वहण सन्धि का षष्ठ अङ्ग 'प्रसाद' है। धनञ्जय के अनुसार आराधना (पर्युपासन प्रसन्न करने का प्रयास) ही प्रसाद कहलाता है।[147] अर्थात् जहां किसी का पर्युपासन वर्णित होता है उसे प्रसाद नामक सन्ध्यङ्ग कहते हैं। सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में गरूड और सुदर्शन को शास्त्र प्रसिद्ध वाहन और सङ्कल्प बताकर 'अहो न खलु विश्वप्रकाशा विदिशश्च। तदासीदतीव देवस्य

---

146 परिभाषा मिथो जल्प: द0रू0 1/51

147 प्रसाद: पर्युपासनम्। द0रू0 1/52

दयाबल्लभस्य सङ्कल्पः' के द्वारा सङ्कल्प का पर्युपासन किया गया है। इस कारण यहां प्रसाद नामक सन्ध्यङ्ग है। प्रस्तुत श्लोक में वर्णन है-

व्यक्तौ संनाहसङ्कल्पौ विश्वगोप्तुरिमौ हरेः।

प्रथितावगमग्रामे पक्षीश्वरसुदर्शनौ।। सं0सू0 10/19

निर्वहण सन्धि का सप्तम अङ्ग 'आनन्द' है। धनञ्जय ने आनन्द के लक्षण में कहा है कि अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द है।[148] नाट्यशास्त्रकार ने कहा है कि अभीप्सित अर्थ (वस्तु) के आगमन को आनन्द कहते हैं।[149] प्रस्तुत नाटक में निम्नलिखित श्लोक द्वारा निरूपित हुआ है-

प्रकृतः क्रियया धिया च योगा परमैकान्त्यपरिष्कृतस्यपुंसः।

निधिदर्शन वन्निरूढ़हर्ष प्रणिधते विशंद परप्रकाशम्।। सं0सू0 10/20

इसके द्वारा निधि दर्शनवत् से इष्टार्थ प्राप्ति की प्रतीति होने के कारण आनन्द नामक सन्ध्यङ्ग है।

'समय' निर्वहण सन्धि का अष्टम अङ्ग है। दशरूपककार ने इसके लक्षण में कहा है कि दुःख का दूर हो जाना ही समय कहलाता है।[150] भरतमुनि के अनुसार दुःख के समाप्त हो जाने को समय कहते हैं।[151] सङ्कल्पसूर्योदय में 'तदसौ झटिति निस्त्रुटित निगल युगलस्त्वया विधातव्यः।'[152]

---

148 आनन्दो वाञ्छिताप्तिः द0रू0 1/52

149 समागमस्तथार्थानामानन्दः परिकीर्तितः। ना0शा0 21/100

150 समयो दुःखनिर्गमः। द0रू0 1/52

151 दुःखस्यापगमो यस्तु समयः स निगद्यते। ना0शा0 21/101

152 सं0सू0 पृ0 826

इत्यादि में निस्त्रुटित से दुःख निवृति की प्रतीति होने से समय नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग प्रस्तुत किया गया है।

'कृति' निर्वहण सन्धि का नवम अङ्ग है। दशरूपककार के अनुसार लब्ध अर्थ का शमन (शान्ति या स्थिरीकरण) कृति कहलाता है।[153] नाट्यशास्त्रकार ने इसको 'द्युति' कहा है।[154] यहां शमन का अर्थ स्थिरीकरण से है। सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में श्रद्धा के कथन अथवा 'परं वा मोक्षो भविष्यतीति विस्रब्धहृदयेन भवितव्यम्' के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का निश्चय बताकर उपलब्ध अर्थ का स्थिरीकरण कर दिया गया है। इस कारण यहां कृति नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।

निर्वहण सन्धि का दशम अङ्ग 'भाषण' है। धनञ्जय के अनुसार मान आदि की प्राप्ति भाषण कहलाती है।[155] इसे ही नाट्यशास्त्रकार ने साम-दामादि से सम्पन्न होना कहा है।[156] प्रस्तुत नाटक में 'स्वसेवा सर्वभौमत्वं भवते परमात्मना। विवेकस्य च वीरस्य यौवराज्य प्रदित्सितम्।'[157] के द्वारा पुरुष और विवेक के बहुमान की प्रतीति होती है अतः भाषण सन्ध्यङ्ग है।

निर्वहण सन्धि का ग्यारहवां अङ्ग 'उपगूहन' है। आश्चर्यजनक वस्तु की प्राप्ति को उपगूहन कहते हैं।[158] प्रस्तुत नाटक सङ्कल्पसूर्योदय में धनाभिलाषादि

---

153 कृतिर्लब्धार्थ शमनम्। द0रू0 1/53

154 लब्धस्यार्थस्य शमनं द्युतिमाचक्षते पुनः। ना0शा0 21/100

155 मानाद्याप्तिश्च भाषणम्। द0रू0 1/53

156 सामदामादिसम्पन्नं भाषणं समुदाहृतम्। ना0शा0 19/102

157 सं0सू0 10/63

158 अद्भुतस्य चु सम्प्राप्ति र्भवेत्तदुपगूहनम्। ना0शा0 21/102

के समाप्त हो जाने से दूसरे के गुणों को ग्रहण करने का इच्छुक कोई नहीं दिखता है-

गतद्रविणदोहदं गलितमाननागौरवं

यशास्यनभिसन्धिकं यमिनमप्यनुद्गृह्णतिं।

तिरस्करणकौतुक ग्रहगृहीतचित्ते जने

गुणग्रहणलालसो न खलु कश्चिदालक्ष्यते।। सं0सू0 10/79

इत्यादि के द्वारा अद्भुत सन्तोषरूपी वस्तु प्राप्ति का वर्णन होने के कारण यहां उपगूहन नामक सन्ध्यङ्ग है।

निर्वहण सन्धि का बारहवां अङ्ग 'पूर्वभाव' है। इसका दूसरा नाम पूर्ववाक्य भी है। यथोक्त कार्य का दर्शन पूर्वभाव कहा जाता है।[159] प्रस्तुत नाटक में-

कुल्यत्वेन परिग्रहेऽपि कुटिलप्रस्थानभागिष्वसौ

कूटस्थप्रतिकूलवृत्तिषु कृपादाक्षिण्यलेशोज्झितः।

कामादेः स्वयमौर्ध्वदैहिकविधिं कृत्वा यथार्ह कृती

द्रष्टुंत्वा त्रुटितस्वकर्मनिगलं प्राप्तौ विवेकः प्रभुः।। सं0सू0 10/80

इत्यादि, अपने कर्मपाश को तोड़ने वाले पुरुष को देखने के लिये महाराज विवेक आये हैं, के द्वारा इष्ट कार्य दर्शन प्रतीत होता है अतः पूर्वभाव नामक सन्ध्यङ्ग है।

---

159 पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थ प्रदर्शकम्। ना0शा0 21/103

'काव्यसंहार' निर्वहण सन्धि का तेरहवां अङ्ग है। वर प्राप्ति को काव्य संहार कहते हैं।[160] इसमें काव्यार्थ का संहरण होता है इसलिये भी इसे काव्य संहार कहते हैं। प्रस्तुत नाटक में-

किं तत्प्रियं परमतः प्रतिपादनीयं

पद्मासहायपदपद्मजुषा भवत्या।

पश्यामि यत्पुरूषमेवमपास्तपङ्कम

राकाशशाङ्कमिव राहुमुखाद्विमुक्तम्।। सं0सू0 10/95

के द्वारा कार्य का संहरण किये जाने के कारण काव्यसंहार नामक सन्ध्यङ्ग निरूपित हुआ है।

निर्वहण सन्धि का चौदहवां अङ्ग 'प्रशस्ति' है। दशरूपककार धनञ्जय ने इसका लक्षण किया है शुभ (अर्थ) का कथन ही प्रशस्ति कहलाता है।[161] प्रस्तुत नाटक में-

अङ्गीकुर्वन्त्वकलुषधियो नित्यमध्यात्म विद्या-

माद्यौ धर्मः स्पृशतु वसुधामाशिषः पारवर्ती।

देवः श्रीमन्निरवधिदयासिन्धुरस्मिन्प्रबन्धे

वक्ता श्रोतावचनविषयः प्रीयतां वासुदेवः।। सं0सू0 10/97

के द्वारा अध्यात्मविद्या परिपालन निवृत्तिधर्म वर्धन एवं भगवत् प्रीणन की कामना की गई है अतः प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।

---

160 वरप्रदान सम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते। ना0शा0 21/103

161 प्रशस्तिः शुभशंसनम्। द0रू0 1/54

इस प्रकार कथावस्तु का अर्थप्रकृति, अवस्था तथा सन्धि के रूप में विभाजन करके 64 सन्ध्यङ्गों के प्रयोग द्वारा इसका वर्णन किया गया। इसके अलावा कथावस्तु को दो भागों में बांटा जाता है।[162] कुछ वस्तु तो सूच्य तथा दूसरी दृश्य और श्रव्य होती हैं। उनमें वस्तु का जो भाग नीरस या जिन्हें रङ्गमञ्च पर नहीं दिखाया जा सकता उन्हें 'सूच्य' कहा जाता है। किन्तु जो वस्तु का भाग चित्ताकर्षक, उदात्त रस एवं भाव से परिपूर्ण होते हैं, उन्हें रङ्गमञ्च पर दिखाया जा सकता है, इस कारण दृश्य कहा जाता है।[163]

(ख) अर्थोपक्षेपक तथा नाट्य विषयक अन्य पात्र :

सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करने के लिये अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग किया जाता है। इसके विषय में दशरूपककार ने कहा कि- (1) विषकम्भक, (2) चूलिका, (3) अङ्कास्य, (4) अङ्कावतार और (5) प्रवेशक इन पांच अर्थोपक्षेपकों (इतिवृत्त के सूचकों) के द्वारा सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करना चाहिए।[164] इस कारण प्रस्तुत नाटक में प्रयुक्त इन अर्थोपक्षेपकों पर विचार कर लेना उचित होगा।

अब इन अर्थोपक्षेपकों में प्रसिद्ध विषकम्भक में दशरूपककार ने इसका लक्षण किया है- बीते हुए और आगे होने वाले कथाभागों का सूचक, संक्षिप्त अर्थवाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है, वह विषकम्भक

---

162 द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः। सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्। द0रू0 1/56
163 नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः। दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभाव निरन्तरः। द0रू0 1/57
164 अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्। विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतार प्रवेशकैः। द0रू0 1/58

कहलाता है।[165] अर्थात् भूत और भविष्य के कथांशों का सूचक एक या दो मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विषकम्भक होता है। इसके दो भाग होते हैं (1) शुद्ध विषकम्भक, (2) संकीर्ण विषकम्भक। एक या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विषकम्भक शुद्ध कहलाता है और मध्यम तथा अधमपात्रों द्वारा मिलकर प्रयोजित विषकम्भक सङ्कीर्ण कहलाता है।[166]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में पांच बार विषकम्भक का प्रयोग हुआ है। तीन बार शुद्ध विषकम्भक है और दो बार सङ्कीर्ण या मिश्र विषकम्भक। सर्वप्रथम सङ्कीर्ण विषकम्भक का प्रयोग प्रथम अङ्क के आदि में प्रस्तावना के अनन्तर किया गया है। यह विस्तृत विषकम्भक है क्योंकि इसमें 33 श्लोकों तथा अनेक गद्य खण्डों का प्रयोग हुआ है। इसमें काम, बसन्त, तथा रति के वार्तालाप द्वारा कथांशों की सूचना दी गई है। वे विवेक और महामोह के स्वाभाविक वैर का वर्णन करते हुये अपने को मोहपक्ष का बताते हैं। काम स्त्रियों से विवेक को जीतने की युक्ति बताता है। अन्त में विवेक के आगमन की सूचना देकर वे सब निकल जाते हैं।

इसके पश्चात् तृतीयाङ्क के शुरू में शुद्ध विषकम्भक का प्रयोग हुआ है। इसमें राग और द्वेष दो पात्रों का वार्तालाप है। राग स्त्रियों से विवेक की विजय बताता है। द्वेष अपने रहते हुये विवेक की सफलता को असंभव बताता है। अन्त में स्त्री विलास, कामकोकिल और मोहश्री की निन्दा करते हुये वे विवेक के विजय की सूचना देते हुये निकल जाते हैं।

---

165 वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः।। द0रू0 1/59
166 एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः। द0रू0

षष्ठ अङ्क के आदि में कञ्चुकी द्वारा शुद्ध विषकम्भक प्रयुक्त किया गया है। वह अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए राजसेवा की निन्दा करता है। पुनः विवेक के आगमन की सूचना देकर निकल जाता है।

सप्तम अङ्क के आदि में एक पात्र संस्कार के कथन से शुद्ध विषकम्भक का प्रयोग किया गया है। संस्कार अपना परिचय देता है, वह विवेक का शिल्पी है। व्यवसाय और सुमति के साथ विवेक के आने की सूचना देकर चला जाता है।

अष्टम अङ्क के आदि में सङ्कीर्ण या मिश्र विषकम्भक का प्रयोग हुआ है। इसमें अभिनिवेश और दुर्वासना दो पात्र हैं। अभिनिवेश अपनी सामर्थ्य का वर्णन करते हुये अपने को लोभ को उत्साहित करने वाला छोटा भाई बताता है। जुगुप्सा, ज्ञानादि के द्वारा काम-क्रोध इत्यादि के जीते जाने, नारद और तुम्बुरू के आगमन तथा महामोह द्वारा युद्ध की तैयारी की सूचना देकर वे चले जाते हैं।

इस प्रकार सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में विषकम्भक का प्रयोग हुआ है। सभी अर्थोपक्षेपकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषकम्भक ही है। इसके पश्चात् 'प्रवेशक' का स्थान आता है। प्रवेशक भी विषकम्भक की तरह भूत एवं भविष्य के कथांशों का सूचक है। नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से प्रयुक्त दो अङ्कों के बीच में स्थित तथा शेष (अप्रदर्शनीय) अर्थ का सूचक प्रवेशक कहलाता है।[167]

---

167 तद्वदेवानुदात्तोक्त्त्या नीचपात्रप्रयोजितः प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः।। द0रू0 1/60

प्रस्तुत नाटक में द्वितीय अङ्क के आदि में प्रवेशक का प्रयोग किया गया है। श्रद्धा और विचारणा अपने वार्तालाप में बताती है कि विवेक के शत्रु विजयोद्योग को सुनकर महामोह के द्वारा वाह्यदुर्वादी बुद्ध, जैन आदि पुरुष को प्रतारित करने के लिये भेजे गये हैं, सुमति के इस सन्देश को वह सेनापति व्यवसाय को बताने जा रही है। जो सत्य होता है वही नित्य होता है, जो मिथ्या होता है, वह समय आने पर झूठा सिद्ध होता है, कहकर श्रद्धा अकेले विवेक द्वारा प्रबल अनेक प्रतिपक्षियों के निर्मूलन की आशा व्यक्त करती है।

तीसरा अर्थोपक्षेपक 'चूलिका' है। यवनिका के भीतर स्थितपात्रों के द्वारा किसी अर्थ (बात) की सूचना देना चूलिका[168] कहलाता है। सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में नवम अङ्क के आदि में चूलिका का प्रयोग हुआ है। दूर से पराक्रमशील विवेक के आने की सूचना दी जाती है, इसके पश्चात् विवेक प्रवेश करता है, और नवम अङ्क प्रारम्भ होता है।

अङ्कास्य चतुर्थ अर्थोपक्षेपक है। अङ्क के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा (पूर्व अङ्क से) असम्बद्ध (विच्छिन्न) अग्रिम अङ्क के अर्थ की सूचना देने के कारण यह अङ्कास्य कहलाता है।[169] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक के नवम अङ्क में राजा (विवेक)-

इयमखिलपुमर्थ प्रार्थनाकल्पवल्ली

सितमतिभिरनन्यैः सेविता सिद्धवृन्दैः।

द्युतिभिरबिरलाभिर्द्योतयन्ती दिगन्तान्

---

168 अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। द०रू० 1/61

169 अङ्कातपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थ सूचनात्। द०रू० 1/61

विशति सुमतिसौधं विष्णुभक्तिर्विशुद्धम्।। सं0सू0 1/52

इस श्लोक के द्वारा विष्णु भक्ति के प्रवेश की सूचना देता है। इसके पश्चात् दशम अङ्क प्रारम्भ होता है और विष्णु भक्ति प्रवेश करती है। अतः यहां अङ्कास्य का प्रयोग किया गया है इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क के अन्त में काम की उक्ति 'सद्यःसम्प्रति दम्भदर्पकुहनासूयादि दत्तैक्षणःत्यार्थिप्रतिरोध कर्मणि महामोहः प्रवर्तिष्यते के द्वारा दम्भदर्पकुहनादि' के साथ युद्ध में महामोह के प्रवृत्त होने की सूचना दी गयी है। बाद में पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में दम्भ और कुहना प्रवेश करते हैं और दर्प, असूया तथा महामोह भी आते हैं।

इस प्रकार सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में केवल चार अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग हुआ है। 'अङ्कावतार' का प्रयोग इसमें नहीं हुआ हैं किसी भी नाटक के लिये यह जरूरी भी नहीं है कि सभी पांचो अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग किया ही जाय।

नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु को पुनः तीन भागों में बताया गया है।[170] इन तीन भेदों को बतलाते हुये दशरूपककार ने कहा है कि (1) सबके ही सुनने योग्य 'सर्वश्राव्य', (2) नियत जनों के ही सुनने योग्य 'नियतश्राव्य' तथा (3) किसी के भी न सुनने योग्य 'अश्राव्य'।[171] जो सर्वश्राव्य वस्तु है वह 'प्रकाश' (प्रकटरूप से) इस नाम से जानी जाती है किन्तु जो सबके लिये ही अश्राव्य होती है वह 'स्वगत' कहलाती है।[172] पुनः नियतश्राव्य जनान्तिक और

---

170 नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते। द0रू0 1/63

171 सर्वेषांनियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च। द0रू0 1/64

172 सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्। द0रू0 1/64

अपवारित के भेद से दो प्रकार का होता है।[173] उनमें वह वार्तालाप के सन्दर्भ में जो त्रिपताक रूप हाथ (की मुद्रा) के द्वारा अन्यों को बचाकर बहुत से जनों के मध्य में दो पात्र आपस में बात करते हैं, वह जनान्तिक है।[174] तथा जहां (किसी पात्र के द्वारा) मुंह फेरकर दूसरे व्यक्ति से गुप्त बात (रहस्य) कही जाती है वह अपवारित (संवाद) कहलाता है।[175]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में सर्वश्राव्य और अश्राव्य का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। अपवारित का प्रयोग केवल दो बार हुआ है एक बार तृतीय अङ्क में विवेक के द्वारा दूसरी बार अष्टम अङ्क में महामोह के द्वारा। दोनों स्थलों पर दूतों द्वारा सन्देश कथन के समय ही अपवारित प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत नाटक में 'जनान्तिक' का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वेदान्तदेशिक के काल तक संस्कृत नाटकों का प्रचार-प्रसार कम हो गया रहा होगा। जनता 'त्रिपताकाकार' आदि सङ्केतों को नहीं समझती रही होगी। इस कारण उसका प्रयोग सर्वजनवेद्यदुष्करता के कारण नहीं किया गया, या कहीं आवश्यकता ही न पड़ी हो, यह आवश्यक भी नहीं है कि नाटक में जनान्तिक का प्रयोग किया ही जाय।

नाट्यधर्म के प्रसङ्ग में ही 'आकाशभाषित' पर भी विचार कर लेना चाहिये। जहां कोई पात्र दूसरे पात्र के बिना तथा किसी के बिना कहे भी मानों सुनकर ही, क्या कहते हो? इस प्रकार कहता है वह आकाशभाषित

---

173 द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तिकमपवारितम् द0रू0 1/65

174 त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम्। अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते जनान्तिकम्। द0रू0 1/65

175 रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्। द0रू0 1/66

है।[176] सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में छः बार आकाशभाषित का प्रयोग हुआ है। सर्वप्रथम द्वितीय अङ्क में शिष्य द्वारा, फिर तृतीय अङ्क में राग द्वारा आकाशभाषित का प्रयोग किया गया है। दो बार दर्प, एक बार असूया और एक बार महामोह के द्वारा पञ्चम अङ्क में आकाशभाषित का प्रयोग किया गया है।

पात्रों की दृष्टि से यह नाटक एक चरित्र कोष नाटक सा लगता है। इतने अधिक पात्रों को यद्यपि सोद्देश्य रखा गया है, फिर भी इससे नाटक की संघटन शीलता में बहुत बड़ी क्षति पहुंची है। वस्तुतः, इस नाटक को नाटककार ने एक चुनौती के रूप में लिखा है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' के प्रसिद्ध प्रणेता श्रीकृष्ण मिश्र जी से यह चुनौती प्राप्त हुई थी, अतः नाटक के प्रायः तत्त्वों में नाटककार के उन्मादपूर्ण दृष्टिकोण का प्रदर्शन लक्षित किया जा सकता है। पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात अपवाद नहीं है।

इस नाटक में आये हुये पात्रों की निम्नलिखित श्रेणियां निर्णीत की जा सकती हैं-

1. अमूर्त पात्र- (विवेक, सुमति, महामोह, दुर्मति आदि)
2. प्ररूप पात्र- (गुरू, वाद, देवार्षि आदि)
3. साधारण पात्र- (विदूषक, नटी आदि)

उपर्युक्त समस्त चरित्रों के रूपाङ्कन में नाटककार ने बहुत ही स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय दिया है। यह नाटककार की महत्त्वपूर्ण विशेषता कही

---

176 किं ब्रवीष्येवमित्यादि बिना पात्रं ब्रवीति यत्। श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम्। द0रू0 1/67

जायेगी कि उसने विविध चरित्रों को उनकी अलग-अलग रूप-रेखा के साथ चित्रित कर दिया है। चाहे विवेक हो, या महामोह, सुमति हो या दुर्मति, हर एक अपनी एक अलग प्रतिभा बनाती चली जाती है। यही नहीं, वरन् हर एक वर्ग से सम्बन्धित प्ररूप चरित्रों में गुरू (रामानुजाचार्य), शिष्य (वेदान्तदेशिक), देवर्षि (नारद, तुम्बरू आदि) भी कम सफल चरित्र नहीं है। अपने-अपने वर्ग के सिद्धान्त प्रतिपादन में इन सबों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वस्तुतः, विभिन्न वर्गगत चरित्रों द्वारा जो तार्किक संघर्ष कराया गया है, वह नाटक को एक विशेष महत्त्व की श्रेणी में पहुंचा देता हैं। गुरू (रामानुजाचार्य) से शिष्य रूप में स्वयं नाटककार का तार्किक विवाद सैद्धान्तिक महत्त्व का तो है ही, साथ ही साथ, उच्च बौद्धिकों के लिये एक जीवंत मनोरञ्जन का विषय भी बन जाता है। सामान्य चरित्रों में (नटी, विदूषक, सूत्रधार) भी नाटककार की यह चरित्र-चित्रण की विशेषता आसानी से लक्षित की जा सकती है और फिर सूत्रधार नटी जैसे पात्र इन चरित्रों के प्राण ही बन गये हैं। नाटक के प्रारम्भ में सबसे पहले उपस्थित होना, फिर सदैव के लिये गुप्त हो जाना, यह बाध्यता होते हुये भी सूत्रधार और नटी दर्शकों की स्मृति से हटाये नहीं जा सकते। अरूचि पैदा कर देना नाटककार के कथा-शैथिल्य का प्रमाण है और भूल नहीं पाना चरित्रों की तलस्पर्शी अभिव्यक्ति की पहचान।

प्रतीक नाटकों के विकास में 'सङ्कल्पसूर्योदय' पात्रों की दृष्टि से कोई बहुत प्रगतिशील नहीं लगता। कुछ एक मौलिक चरित्रों की उद्भावना की बात छोड़ दी जाय तो प्रायः अधिकांश चरित्र अपने पूर्ववर्ती प्रतीक नाटकों के पात्रों

की ही पुनरावृत्ति मात्र है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' से तो इसके चरित्रों का अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है। विवेक हो या रति थोड़े बहुत संशोधन के साथ एक ही भावधारा की अभिव्यक्ति लगते हैं। चुनौती के प्रत्युत्तर में लिखे जाने के बावजूद भी सङ्कल्पसूर्योदय, पात्रों की दृष्टि से प्रतीकनाटकों की सीमा को कोई बहुत दूर नहीं बढ़ा सका है। हां, आगे, बढ़ने की, गतिशील होने की प्रक्रिया और सम्भावित उपलब्धियों की ओर सङ्केत के अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए।

सङ्कल्पसूर्योदय में रस तथा अलङ्कार :

(क) रस :

साहित्य जगत् में रस से तात्पर्य है- काव्य, नाटकादि के पठन, श्रवण या दर्शन से सहृदय के हृदय में उद्दीप्त तन्मयीभाव रूप आनन्द। यद्यपि यह आनन्द एक रूप ही हुआ करता है किन्तु विभिन्न आलम्बनों का आश्रयण करने के कारण इसके अनेक भेद किये जाते हैं। आलम्बन भेद के कारण आश्रय में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभाव तथा सञ्चारी भाव उत्पन्न होते हैं जिन्हें पढ़ने या देखने से सहृदय पाठक या दर्शक के हृदय में अनेक प्रकार की आनन्दमयी अनुभूतियाँ हुआ करती हैं। इन्हीं अनुभूतियों को हम 'रस' कहते हैं। पाठक या दर्शक की रूचि एवं योग्यता-भेद के कारण रसानुभूति में भी मात्रा-भेद देखा जाता हैं। एक ही दृश्य किसी को सुख, किसी को दुःख और किसी को उदासीनता दे सकता है। इसका उदाहरण सर्वत्र सुलभ है। आधुनिक चलचित्रों में नायिकाओं के नग्न प्रदर्शन को देखकर जहां युवा वर्ग उछल पड़ता है, वहीं

प्रौढ़जन इक्कीसवीं सदी की विडम्बना समझकर उदासीन हो जाते हैं और भारतीय संस्कृति से अनुराग रखने वाले बुद्धजन कुढ़ कर रह जाते हैं। इस अनुभूति भेद का कारण रूचि-भिन्नता ही है।

रसों की सङ्ख्या के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान्, शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत नामक आठ रस ही मानते हैं,[177] तो कुछ विद्वान् शान्त को भी नवम रस के रूप में स्वीकार करते हैं।[178] आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को भी रस स्वीकार किया है।[179] भोज ने उक्त नवरसों के अतिरिक्त प्रेय, उदात्त तथा उद्धत रसों को भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों ने भी रस सङ्ख्या में भेद तथा रसों के नये नामों का प्रयोग किया है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रसों की इयत्ता नहीं है। उनकी निश्चित सङ्ख्या देना कठिन है तथापि संस्कृत साहित्य में मुख्य रूप से नवरस स्वीकार किये जाते हैं।

शान्त रस :

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में प्रधान रस शान्त रस है। वीर आदि उसके अङ्ग के रूप में आये हैं। वेदान्तदेशिक के अनुसार शान्त रस ही त्रिवर्गनिष्ठ कोमलचित्त व्यक्तियों की प्रीति के लिये रसान्तर शृङ्गार आदि रूप में

---

177 शृङ्गारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः। वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता।। भा०ना० 6/15

178 निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपिनवमो रसः। का०प्रा० 4/35

179 स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। सा०द० 3/357

परिवर्तित हुआ करता है। वही सर्वगुण सम्पन्न शान्त रस इस नाटक में स्थित है।[180] नाटककार की मान्यता है- शान्त रस ही चित्त के खेद को दूर करने वाला, वास्तविक आनन्द देने वाला एकमात्र रस है, शृङ्गार तो असभ्य की श्रेणी में आता है, वीर रस भी एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को प्रोत्साहन देता है और अद्भुत रस की गति स्वभावतः विरूद्ध है।[181] अतः शान्त रस ही निःसन्देह वास्तविक रस है।

जिस प्रकार महाकवि भवभूति ने 'उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा, कोलो ह्ययं निरवधिविर्पुला च पृथ्वी' कहकर अपने नाटकों की उत्कृष्टता का ज्ञापन किया है, उसी प्रकार वेदान्तदेशिक भी कहते हैं कि सांसारिक प्राणी अपने स्वभाव भेद के कारण इस शान्तप्रधान नाटक को स्वीकार करें या अस्वीकार करें उससे हमारा कुछ नहीं बिगड़ता, संसार ईश्वर रहित नहीं है और ईश्वराज्ञा में विद्यमान सूर्यचन्द्रादि चतुर्दश साक्षी तो जानते ही हैं-

शमधन निधिं सत्वप्रायं प्रयोगमयोज्ञिनः

स्वगुणवशतः स्तोतुं यद्वा वरीव्रत निन्दितुम्।

किमिह बहुभिः किं नश्छिन्नं विश्वमनीश्वरं

तदुपनिहिता जाग्रत्येत्रं चतुर्दशसाक्षिणः।। सं0सू0 1/23

नाटक में वीर या शृङ्गार का ही प्राधान्य होना चाहिये। इस कथन में लक्षणकार का तत्प्रायिकत्व में ही अभिप्राय है तभी नागानन्दादि में शान्तरस की

---

180 ललितमनसां प्रीत्यै विभ्रद्रसान्तभूमिकामनवमगुणो यस्मिन्नाट्ये रसो नवमः स्थितः। सं0सू0 1/3

181 असभ्य परिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता परस्पर तिरस्कृतिं परिचिनोति विरायितम्

विरूद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्य सौरः परैः शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्त्तेव दोरसः सं0सू0 1/19

प्रधानता उत्पन्न होगी। किन्तु शान्तरस के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियां देखी जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि अनादि कालिक वासना के कारण मनुष्यों में राग-द्वेषादि सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रायः विद्वान् भी तद्युक्त ही देखे जाते हैं। अतः संसार में शान्त रस में अभिनिवेश रखने वाले कवियों और उन रचनाओं का आस्वाद ले सकने वाले सहृदयों का सर्वथा अभाव होने के कारण काव्यों में शान्त रस का सन्निवेश ही असम्भव है।[182]

कुछ विद्वानों का विचार है कि शान्त रस ही अप्रसिद्ध है। बिना किसी की सत्ता रहे उसका चित्रण नहीं किया जा सकता है। नाट्यशास्त्रकार ने आठ रस[183] और उसके अनुकूल आठ स्थायीभाव[184] ही बताये हैं। अतः, शान्त नामक नवम रस तथा शम या निर्वेद स्थायी भाव की कल्पना सम्प्रदाय विरूद्ध है। कुछ लोगों का कहना है कि श्रव्य काव्यों में तो यथाकथञ्चित शान्त रस का अभिनिवेश हो भी सकता है किन्तु अभिनय प्रधान दृश्यकाव्यों में उसका निवेश बिल्कुल असम्भव है क्योंकि समस्त व्यापारों के विनाश रूप शम का अभिनय नहीं किया जा सकता।[185] इस कारण नाटकों में शान्त रस का निवेश असाम्प्रदायिक होने के साथ अप्रामाणिक भी है।

---

182 अन्येतु वस्तुतस्याभावं वर्णयन्ति अनादिकाल प्रवाहायातरागद्वेषयोरूच्छतुमशक्यत्वान। द0रू0 वृति 4/35

183 शृङ्गारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानकाः। वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।। भ0ना0 6/16

184 रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः। भ0ना0 6/17

185 सर्वथा नाटकादावमिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निधिष्यते तथ्य समस्त व्यापार प्रविलय रूपस्याभिनयायोगात्। द0रू0 वृति 4/35

अन्य अनेक विद्वानों के मत में शान्त नामक नवां रस है। शम अथवा निर्वेद उसका स्थायीभाव है, श्रव्य और दृश्यकाव्यों में उसका निवेश भी किया जा सकता है। सङ्कल्पसूर्योदय के नाटककार को यही मत अभीष्ट है, किन्तु उनके मत के साथ लक्ष्य-लक्षण समन्वय करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका शान्तरस निर्वेद मूलक शम या निर्वेद स्थायीभावक नहीं है। शान्तरस को उन्होंने शमितचित्तखेद रस कहा है।[186] इसी के द्वारा उन्होंने अन्य रसों का चित्तखेदकरत्व भी व्यक्त कर दिया। शान्तरस शृङ्गार, वीर आदि का अतिक्रमण कर स्थित रहता हैं, उसका विभाव तत्त्वावलोकन है, श्री वेदान्तदेशिक ने इसे तत्त्वावलोकनविभाव समेचितात्मा कहा है, तत्त्व केवल चिदचिच्छरीरक ब्रह्म है। स्वमाहात्म्यगोपन तथा बालभाव प्रदर्शन अनुभाव एवं पुलक अश्रुपातादि सञ्चारी भाव हैं।[187] अब विचारणीय यह है कि चित्त के खेद का शमन किस प्रकार होता है। इसके लिये श्री वेदान्तदेशिक ने सात्विक त्याग को उपाय बताया है। सात्विक त्याग भगवत्कृपा के बिना सम्भव नहीं है। भगवत्कृपा निर्हेतुकी होती हुई भी नैघृण्यवैषम्यदोष निवारणार्थ कर्मसापेक्ष होकर प्रवृत्त होती है जिसके लिये भक्ति या प्रपत्ति अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अनन्य भक्ति या प्रपत्ति द्वारा प्रतिनारायण की कृपा से ही मन के दु:खों का शमन हो सकता है और यही मन के दु:खों का शमन ही शान्त रस का स्वरूप है। अत:, उसका स्थायीभाव भक्ति या प्रपत्ति (शरणागति) स्वरूप भगवत्प्रेम से उत्पन्न शम है न कि निर्वेद से उत्पन्न शम या निर्वेद।

---

186 सं0सू0 पृ0 1/19

187 सं0सू0 पृ0 10/38

शान्तरस का यह स्वरूप स्वीकार कर लेने पर उनके काव्यों में लक्ष्य-लक्षण समन्वय भी हो जाता है। निर्वेद मूलक शम या निर्वेद को स्थायीभाव मान लेने पर अन्य काव्यों की बात तो दूर रही, सङ्कल्पसूर्योदय में ही शान्त रस की सिद्धि नहीं की जा सकती है। जबकि श्री वेदान्तदेशिक ने उद्घोष के साथ कहा है कि सङ्कल्पसूर्योदय में संसार मार्ग में निरन्तर चलने (जन्म लेने) से पीड़ित जनों की आरति का नाश करने के अनुकूल उत्कृष्ट गुण (भक्ति और प्रपत्ति) से युक्त शान्त रस विद्यमान है, जो सात्त्विक जनों में आस्वाद (प्रीति) का सम्पादन करता है-

ललितमनसां प्रीत्यै विभ्रदसान्तरभूमिका-

मनवमगुणो यस्मिन् नाट्ये रसो नवमः स्थितः।

जनन पदवीजङ्घालार्तिच्छिदानुगुणीभव-

न्नटपरिषदा तेनास्वादं सतामुपचिन्वति।। सं०सू० 1/3

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समय सङ्गत शान्त रस को स्वीकार करते हुये भी श्री वेदान्तदेशिक ने उसके स्वरूप को तद्रूपेण नहीं स्वीकार किया है। अन्य मतों की सार्थकता का भी विवेचन कर लेना समीचीन होगा।

शान्त रस प्रधान काव्य रचना करने वाले कवियों और उनका रसास्वादन करने वाले विद्वानों का अभाव बताना प्रत्यक्ष, तर्क और शास्त्र से सर्वथा विरूद्ध है। अनेक नाटक और काव्य ऐसे हैं जिनका प्रधान रस शान्त है, उनके पाठकों और दर्शकों का भी अभाव नहीं है तो इस मत को कैसे मान्यता दी

जा सकती है। दूसरी बात यह है कि स्थायीभावों को चित्तवृत्ति रूप ही स्वीकार किया गया है। विभावादि से सम्पृक्त होकर वे रस रूप में परिणत हो जाती है। मनुष्यों में शम या निर्वेद चित्तवृत्ति रहती है, जिसके कारण कुछ विद्वान् त्रैवर्गिक पुरूषार्थ से निस्पृह होकर परब्रह्म में मन लगाये हुये मोक्षोपाय स्वरूप शान्तरस में सस्पृह देखे जाते हैं। अदृष्टवशात् सामान्य जनों की उधर प्रवृत्ति न होने के कारण अभाव नहीं कहा जा सकता। मेघाच्छन्न आकाश में सूर्य के न दिखाई पड़ने पर भी बुद्धिमान उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते। जहां तक साहित्यशास्त्र के प्रमाण का प्रश्न है, लक्ष्य ग्रन्थ मिलते हैं और लक्षण ग्रन्थों में उनका सम्यक् समर्थन मिलता है। इसलिये शान्तरस प्रधान कवियों और सहृदयों का अभाव कहना उचित नहीं है।

शान्तरस का अभाव बताकर शान्तरस प्रधान काव्यों के कर्तृत्व पर सन्देह करना अविचारिताभिधान ही कहा जायेगा, क्योंकि शान्त रस का अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। नाट्यशास्त्रकार भरत ने अपने ग्रन्थ में पूर्ण रूप से शान्तरस का समर्थन किया है। शान्तरस को नवम रस एवं शम को उसके स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया गया है।[188] किन्तु कुछ लोग इसे क्षेपक मानते हैं। यदि नाट्यशास्त्र का विधिवत् अवलोकन किया जाय तो शान्तरस युक्त पाठ ही सर्वाधिक प्रामाणिक सिद्ध होता है, क्योंकि भरतमुनि ने नाट्यस्वरूप का विवेचन करते हुए कहीं-कहीं शम की स्थिति स्वीकार की

---

188 अथ शान्तोनाम शमस्थायिभावात्मो मोक्ष प्रवर्तक:, मोक्षाध्यात्म समुत्थस्तत्वज्ञानार्थ हेतु संयुक्त:। नै: श्रेयसोपदिष्ट: शान्तरसोनाम सम्भवति। एवं नवरसा दृष्ट नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विता:।।

ना0शा0 पृ0 332,333,335

है।[189] दुःखार्त शोकार्त, श्रमार्त और तपस्वियों को विश्रान्ति देने वाला नाटक कहा गया है।[190] यह तभी सम्भव है जब नाटक शान्तरस प्रधान होंगे, क्योंकि दुःखार्तादिकों की विश्रान्ति शृङ्गार, हास्य, वीर आदि रसों से नहीं हो सकती हैं। उनके लिये परमकाम्य तो शान्ति ही है। शान्ति का उद्भावक शान्तरस ही हो सकता है, अन्य रस नहीं। इसके अतिरिक्त भरतमुनि न तो ज्ञान और योग का प्रदर्शन भी नाटक में स्वीकार किया है[191] तो फिर कैसे यह कहा जा सकता है कि शान्त रस उन्हें अभीष्ट नहीं है। इस तरह सूक्ष्मावलोकन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भरतमुनि को शान्तरस सर्वथा इष्ट था, अतः निम्नलिखित श्लोक समीचीन है-

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।

वीभत्सादभुतशान्ताश्चनव नाट्ये रसाः स्मृताः।।[192]

कुछ समय के लिये यह मान भी लिया जाय कि नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने शान्तरस का परिगणन नहीं किया है, तो भी इससे शान्तरस का अभाव नहीं सिद्ध होता है। भरत के आशय को जानने वाले उद्भट आदि ने स्पष्ट रूप से शान्त रस का निरुपण किया है। 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' में उद्भट ने नव रसों और नव स्थायी भावों को स्वीकार किया है।[193]

---

189 क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थ क्वचिच्छमः। ना0शा0 1/108

190 दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति।। ना0शा0 1/115

191 न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। नासौ योगो न तत्कर्मनाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।। ना0शा0 1/117

192 भ0ना0 गायक0द्वि0अ0 पृ0 266

193 शृङ्गार हास्य करूण रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्सादभुत शान्ताश्च नवनाट्येरसाः स्मृताः।। काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह पृ0 3

आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ में स्पष्टरूप से महाभारत में शान्तरस को अङ्गीरस के रूप में स्वीकार किया है। उनके कहने का तात्पर्य है कि वे अपना ही मत नहीं दे रहे हैं, अपितु महामुनि व्यास को भी शान्तरस ही अभीष्ट था। यद्यपि महाभारतकार ने अभिधया कहीं नहीं कहा है कि महाभारत में शान्तरस अङ्गी है किन्तु शान्तरस अन्य रसों से उपसर्जनत्वेन अनुगम्यमान होकर अङ्गीरूप में ही स्वीकार किया गया है, यह सुव्यक्त है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के मत से सारभूत अर्थ का व्यङ्ग्यरूप से प्रतिपादन ही उचित है, न कि वाच्यरूप से, क्योंकि सारभूत अर्थ स्वशब्द वाच्य होने की अपेक्षा व्यङ्ग्यरूप से प्रकाशित होकर सुतरां शोभा प्राप्त करता है। इस प्रकार उन्होंने महाभारत में (तृष्णाक्षय सुपरिपोषण लक्षण) शान्त रस को अङ्गीरस के रूप में स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट रूप से नव रसों को स्वीकार किया है।[194] रसों का क्रम और स्वरूप बताते हुये वे कहते हैं 'तत्रस्त्रिवर्गात्मक प्रवृत्ति धर्म विपरीत निवृत्ति धर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रस चर्वणेत्युक्तम्'[195] स्थायी भावों पर विचार करते हुए शान्तरस के विषय में वे कहते हैं कि तत्त्वज्ञानजनिर्वेद इसका स्थायीभाव है, न कि निर्वेद से भिन्न[196] है। सम्यक् विवेचन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शान्त रस है।[197]

---

194 तेन प्रथमं रसाः। ते च नव। शान्तापत्त्रायिनस्त्वटाविति तत्र पठन्ति। भा0ना0 पृ0 267 गायक0द्वि0आ0

195 ना0शा0 पृ0 267 गायक0द्वि0आ0

196 ना0श0 पृ0 333

197 ना0श0 पृ0 339

मम्मट ने भी अपने 'काव्यप्रकाश' में शान्तरस को स्वीकार किया है और 'निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपिनवमो रस:' कहा है।[198]

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में शान्तरस को स्वीकार किया है।[199] विश्वनाथ ने शान्तरस का स्वरूप निरूपण भी सम्यक् रूप से किया है।

शाङ्र्गदेव ने 'सङ्गीतरत्नाकर' में शृङ्गारादि नव रसों को स्वीकार किया है।[200] शाङ्र्गदेव ने उन लोगों के मत का खण्डन भी किया है जो शान्तरस के शमसाध्य होने के कारण नट में इसकी असम्भाव्यता बताकर आठ रस ही स्वीकार करते हैं। इनका मत है कि यह व्यर्थ का विवाद है कि नट तो किसी रस का आस्वादन नहीं करता है। सामाजिक रसों का अनुभव करते हैं। उनमें रसास्वाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[201]

'रसगङ्गाधर' में पण्डितराजजगन्नाथ ने नव रस स्वीकार किया है। इसके लिये पण्डित जी ने भरतमुनि का प्रमाण भी दिया है।[202] यही नहीं, नाटकों में आठ ही रस स्वीकार करने वालों का उन्होंने खण्डन भी किया है।[203] अन्त में,

---

198 काव्यप्रकाश 4/35

199 साहित्यदर्पण 3/182, 3/245-48

200 शृङ्गारहास्यौकरूणो रौद्रो वीरो भयानक:। वीभत्सश्चाद्भुत: शान्तो नवधेति रसोमत:।।
सङ्गीत रत्नाकर 7/1358

201 सङ्गीतरत्नाकर 7/1370-74

202 मुनिवचनं चात्र प्रमाणम्। र0गं0 पृ0 121

203 रसगङ्गाधर पृ0 122-123

इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि नाटक में भी शान्त रस होता है। इसके समर्थन में उन्होंने सङ्गीतरत्नाकर का प्रमाण भी दिया है।[204]

इस तरह हम देखते हैं कि अनेक ग्रन्थों में तथा इनके रचनाकारों ने शान्त रस को स्वीकार किया है। भरतमुनि ने भी एकमात्र शान्त रस को स्वीकार किया है। उनके अनुसार अन्य शृङ्गारादि रस समुद्र में तरङ्ग के समान विलीन हो जाते हैं।[205] वेदान्तदेशिक ने भी इसी मत को स्वीकार करते हुये शान्त रस को प्रमुख माना है तथा अन्य रसों को इसकी ही विकृति स्वीकार करते हैं।[206]

इस प्रकार शान्त रस किसी भी प्रकार असाम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता अपितु वह साम्प्रदायिक ही नहीं, विद्वानों द्वारा प्रतिपादित तथा सहृदयसंवेद्य भी है।

काव्यों में शान्त रस स्वीकार करते हुये नाटक में इसलिये स्वीकार न करना कि शमसाध्य होने के कारण नट में शम सम्भव नहीं है, पूर्णतः अनुचित है क्योंकि यह जो हेतु है, असङ्गत है। नट में तो रसाभिव्यक्ति स्वीकार ही नहीं की जाती फिर उसकी शान्ति या अशान्ति से क्या प्रयोजन। सामाजिकों के शान्तियुक्त होने के कारण उन्हें रसोद्बोध होता ही है, इसमें कोई रूकावट

---

204 सङ्गीतरत्नाकरे अष्टावेव रसानाट्येष्विति केचिद्चुदन्। तदचारू, यतः काञ्चिन्न रसं स्वदते नटः।

र०ग० पृ० 124

205 स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः। पुनर्निमिता पाये तु शान्त एव प्रलीयते।।

ना०शा०पृ० 335

206 ललितमनसांप्रीत्यै विभ्रदशान्तरभूमिकामनवमगुणो यस्मिन्नाट्ये रसोनवमः स्थितः।। सं०सू० 1/3

नहीं। यदि नट में शान्ति के अभाव के कारण अभिनय द्वारा उसका प्रकाशन असम्भव बताया जाता है तो यही असङ्गति सभी रसों के अभिनय के समय उपस्थित होगी। क्योंकि नट में तो भय, क्रोध आदि सबका अभाव रहता है। यदि नट में वास्तविक क्रोधादि के अभाव में भी शिक्षा-अभ्यासादि के द्वारा उन रसों की व्यञ्जकता स्वीकार करते हैं तो वास्तविक शम के अभाव में भी नट शम के कार्यो-शरीर में अनास्थादि को शिक्षादि द्वारा दिखा सकता है। अतः नाटक में शान्त रस स्वीकार करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

शान्त रस को न मानने वालों की अनेक प्रकार की आपत्तियाँ 'सङ्कल्पसूर्योदय' के रचनाकार के समक्ष भी उपस्थित थीं। ग्रन्थकार ने सूत्रधार और चेटी के वचनों द्वारा उनका समाधान किया है। शान्त रस का अभिनय करने वाले नटों और उसका आस्वादन करने वाले सामाजिकों का अभाव कहकर शान्तरस न मानने वालों का ग्रन्थकार ने प्रतिवाद किया है, यथा –

'अथवा तादृशान् सम्यान् मत्वा जगति दुर्लभान्।

शङ्के शान्तरसोल्लासम शक्यममिमेनिरे।।[207]'

इसका तात्पर्य यह है कि शान्त रस के आस्वाद में रसिक कम हैं, किन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन कहते हैं – 'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयते एव। यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति, नैतावतासावलोकसामान्य महानुभाव चित्तवृत्ति

---

[207] सं.सू. 1/18

विशेषवत् प्रतिक्षेप्तुं शक्य:।'[208] इस पर भी कुछ लोग यह कह सकते हैं कि शान्त रस की प्रतीति कुछ लोगों को ही हो सकती है, परन्तु यह सब लोगों के लिये प्रशंसा का विषय नहीं हो सकता। उन्हें यह मान लेना चाहिये कि शान्त रस ही क्यों, अन्य रस भी सभी को आसानी से समझ में आ जॉय, यह आवश्यक नहीं है। वीतरागों द्वारा श्रृङ्गार की प्रशंसा नहीं होती है तो उसे भी रस की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिये अथवा श्रोत्रियादि अनेक व्यक्तियों द्वारा किसी रस की चर्वणा न होने के कारण सभी रसों का अभाव मान लिया जाय, यह कहाँ तक उचित है, शान्तरसअभिनिवेशियों के अभाव का खण्डन ग्रन्थकार ने 'भवतु नाम सनकसनन्दनादिमुनिजन सङ्गृहीत सोऽपि तादृशो रस:'[209] कहकर सनकसनन्दनादि के निर्देश द्वारा किया है।

सभी व्यापारोपरतिरूप शम का अभिनय असम्भव है। इस वाद का उपक्षेप करके[210] वेदान्तदेशिक ने उसका खण्डन किया है। सूत्रधार नटी से कहता है "आर्ये मैवं वादी:। न ही वयमवधूतनिखिल धर्माणामलेपकानां मतमभिनेष्याम:, यै नैवमाशंकसे सन्ति। खलुभगवता गीताचार्येण सहस्रश: प्रतिपादित: सात्विकेन त्यागेन परिकर्मिता निवृत्ति धर्मा नियता विविधा व्यापारा: यदभिनयेन रङ्गोपजीविमाजीवकाश:।"[211]

---

[208] ध्वन्यालोक 3/26

[209] सं. सू. पृ0 49

[210] नटी तथापितकथं निष्पन्दनिखिलकरण निष्पादनीय योगप्रधान एष सर्वजन प्रेक्षणीयेन नाटकवृत्तान्तेन सम्पाद्यते। सं.सू. पृ0 49

[211] सं.सू. पृ0 49

कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त व्यापारों की उपरति का आशय फल सापेक्ष कर्म के त्याग से है, न कि कर्मस्वरूप के त्याग से। फलाकाङ्क्षा का त्याग करके कर्मों को करते रहना ही सात्विक त्याग है। गीता में भगवान कृष्ण ने इसी का समर्थन किया है।[212] इस प्रकार शान्त की पर्यन्तावस्था में भी पुरूष सव्यापार ही रहता है, अतः शान्त को किसी प्रकार भी अभिनयानर्ह नहीं कहा जा सकता, अपितु अन्य रसों का ही मुक्तावस्था में अभिनय सम्भव नहीं है, इसलिये अन्य रसों की अपेक्षा शान्त रस ही अभिनय इत्यादि के लिये श्रेष्ठतर है।

नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु मोहराज को पराजित करने और विवेक तथा ज्ञान के उदय को लेकर निर्मित की गयी है। यद्यपि अन्य रसों जैसे-श्रृङ्गार, वीर, करूण, वीभत्स, अद्भुत की उद्भावना भी प्रस्तुत नाटक में कराई गयी है, फिर भी इन सबका सहयोगी रसों के रूप में ही उपादेय लगता है। प्रधान रस तो निर्विवाद रूप में शान्त ही है। शान्त रस की स्थिति दृश्य काव्य में स्वीकार न करने वाले आलोचकों को वेदान्तदेशिक ने आड़े हाथों लिया है और बड़े ही सबल तर्कों द्वारा एक चुनौती के रूप में शान्तरस की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा की है। रस के आदि आचार्य भरतमुनि द्वारा परिगणित न होने पर भी शान्त रस भरत के व्याख्याता अभिनवगुप्त द्वारा अपनी सबल प्रतिष्ठा कराकर उद्भट, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा पालित-पोषित होकर अपनी दीर्घकालीन सञ्जीवनी शक्ति का प्रमाण तो प्रस्तुत करता ही है।

---

212 कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विकोमतः।। भ०गी० 18/9

'सङ्कल्पसूर्योदय' नाटक में कुछ अन्य रस भी उद्भावित हुये हैं। नाटक में श्रृङ्गार, वीर, करूण, हास्य, रौद्र, वीभत्स इत्यादि रसों का भी नाटककार ने यथावसर सफलतापूर्वक संयोजन किया है।

श्रृङ्गार रस

प्रायः सभी विद्वानों ने श्रृङ्गार को रसराज माना है। इसकी उपेक्षा करके किसी कवि का साहित्य जगत् में लब्ध प्रतिष्ठ हो पाना सन्देहास्पद है। दशरूपककार ने इसका लक्षण निम्नलिखित रूप में किया है -

'रम्यदेश कलाकाल वेषभोगादिसेवनैः।।

प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः।

प्रहृष्टमाणा श्रृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः।।'

दशरूपकम् 4/48

अर्थात् रमणीय देश, कला, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक-युवती को जो प्रमोद होता है, वह रतिभाव कहलाता है, वही मधुराङ्ग चेष्टाओं से पुष्ट होकर श्रृङ्गार रस कहलाता है। श्रृङ्गार रस के मुख्यतः दो भेद हैं - सम्भोग और विप्रलम्भ श्रृङ्गार।

श्रृङ्गार रस का उदाहरण भी 'सङ्कल्पसूर्योदय' में देखा जा सकता है। जिसका नाटककार ने यथावसर प्रयोग किया है। नाटक में क्रोध कहता है कि संसार के सो जाने पर शास्त्र रूपी अन्तःपुर में जाकर मुनि शान्ति के ब्याज से श्रृङ्गार शास्त्र का ही अनुशीलन करते हैं। उनका आत्मज्ञान महल है,

शुभगुणों का समूह अलङ्करण है, समाधि सम्भोग है, एकान्त में जाप रति कथा है -

स्वसम्बोधः सौधः शुभगुणगणोमण्डन विधिः

समाधिः सम्भोगोरहसिजपशैली रति कथा।।

सुषुप्ते लोकेऽद्य श्रुतिपरिषदन्तः मुरगतोमुनिः

शान्तिब्याजान्मुखरयति श्रृङ्गार निगमम्।।

सं.सू. 4/57

अन्यत्र बसन्त कहता है कि भला बताओ, योगी होते हुये भी परिहास, संलाप और क्रीडाओं से विचित्र युवतियों की कथाओं में किसका मन नहीं लगता है? -

हसित लपित क्रीडाचित्रैरनुज्झिदभिख्यया

युवति कथया योगी सन्नप्यसङ्गमुपैतिकः।।

सं.सू. 4/21

तरूणियों के वयः सौन्दर्य से सबके मन का विजित हो जाना स्वाभाविक है। कवि द्वारा उनके रूप माधुर्य का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। कवि की ही भाषा में इस पर दृष्टि डालना अधिक समीचीन होगा -

स्मरेण स्तन कुडमलेन भुजयोर्मध्यं तिरोधित्सितं

नेत्रेण श्रवणं लिलंघयिषितं नीलोत्पल श्रीमुषा।

अङ्गम् सर्वमलंचिकीर्षितमहो भावैः स्मराचार्यकै -

स्तन्वीनांविजिगीषितं चवयसा धन्येन मन्ये जगत्।।

वीर रस

प्रस्तुत नाटक में वीर रस का भी प्रसङ्ग आया है। वीर रस के लक्षण में दशरूपककार ने लिखा है कि प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्व, मोह, नय, विस्मय, पराक्रम इत्यादि (विभावों) के द्वारा होने वाले उत्साह (स्थायी भाव) से वीर रस उत्पन्न होता है। वह दया, युद्ध और दान (अनुभाव) के योग से तीन प्रकार का होता है। उसमें मति, गर्व, धृति, प्रहर्ष (व्यभिचारी भाव) हुआ करते हैं।

वीरः प्रतापविनयाध्यवसाय सत्व
मोहाविषादनयविस्मय विक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
न्त्रेधा किलात्र मतिगर्व धृति प्रहर्षाः।।

दशरूपकम् 4/72

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में प्रसङ्ग आया है कि विवेक, सेनापति, गुरू और शिष्य के परामर्श काल में कोई नेपथ्य से कहता है कि चार्वाक्, बौद्ध, जैन आदि वेद-बाह्य सिद्धान्त वालों के साथ अपने पौरूष की परीक्षा करने वाला न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रों का सम्यक् ज्ञाता मैं बीच सभा में चुनौती देकर कहता हूँ कि आसेतुहिमाचल शास्त्रार्थ करने के लिये आने वाले प्रतिद्वन्द्वियों को तूल या तृण क्या तुषकण्डिका के बराबर भी नहीं समझता हूँ।[213]

---

[213] तर्कव्याकृतितन्त्रशिक्षितधियः पक्षेषुबाहेष्वपि प्रत्यक्षीकृतपौरूषा वयममी मध्येसमं ब्रूमहे।
वादाटोपमुपेयुषः प्रतिभटानासेतुहिमाचलं तूलायापि तृणाय वा न च तुष्च्छेदायमन्यामहे। सं.सू. 2/42

इस गर्वपूर्ण, ओजस्वी कथन को सुनकर किसके अन्दर वीरता का सञ्चार नहीं हो जाता है? इसे सुनकर शिष्य भी शान्त नहीं रह सका। नहले पर दहला रखते हुये वह बोल उठा –

यतीश्वर सरस्वती सुरभिताशयानां सतां

वहामि चरणाम्बुजं प्रणतिशालिना मौलिना।

तदन्यमत दुर्मदज्वलित चेतसां वादिनां

शिरःसु निहितं मया पदमदक्षिणं लक्ष्यताम्।।

सं.सू. 2/43

अर्थात् यतिराज रामानुज के वचनों से श्रद्धा रखने वाले महापुरूषों के चरणाम्बुजों को तो मैं नत होकर अपने शिर पर धारण करता हूँ किन्तु उनसे अतिरिक्त सिद्धान्तों के दुरभिमान से दग्धचित्तवाले प्रतिपक्षियों को अभी क्षण भर में मैं जीत लेता हूँ।

उपर्युक्त श्लोकों को पढ़ने मात्र से उत्साह जागृत हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर वीर रस का उत्कृष्ट परिपोषण हुआ है।

विवेक और महामोह पक्ष की सेनाओं में हो रहे घोर सङ्ग्राम में भी वीर रस की व्यञ्जना होती है उदाहरण स्वरूप एक श्लोक प्रस्तुत है –

पतीनुद्यद्विपत्तींस्त्रुटित पृथुशिरः कन्धरासिन्धुरेन्द्रान्

वहानाकीर्णदेहान् व्यतिहननमिथः खण्डिताङ्गांगाछताङ्गान।

शस्त्राशस्त्रिप्रसंप्रभ वचटचटारावघोर प्रचाराः

कुर्वन्त्युद्यामगर्वाः कृतिन इह रणे विक्रमैरक्रमेण।।

सं.सू. 8/34

उपर्युक्त श्लोक में छन्द, चयन और शब्दगुम्फन भी वीर रसानुकूल ही किया गया है।

रौद्र रस

उत्साह के उद्रेक के बाद किसी कर्म में प्रवृत्त होने पर यदि सामने कोई बाधक आ जाय तो क्रोध उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यही क्रोध यदि कवि द्वारा सजा-संवार कर अपनी कृति में प्रकट किया जाता है तो रौद्र का सञ्चार होता है।

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में नाटककार ने रौद्र रस का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। किसी पुरूष में क्रोध देखकर जब रौद्ररस की चर्वणा सहृदयों को होने लगती है तो क्रोध ही यदि क्रुद्ध होकर युद्ध के लिये प्रवृत्त हो तो सहृदय भी भावमग्न होने के कारण ताल ठोंककर खड़े हो जॉय तो आश्चर्य क्या? वेदान्तदेशिक के ही शब्दों में दर्शनीय है -

रून्धानः सिन्धुघोषप्रथनमनिभृतं क्रन्दयन्दमाधरेन्द्रान
भिन्दानः स्कन्धमेदान्सुरपथरथिनां शुष्मणः सारथीनाम्।
शुद्धालोकेन सद्यः क्षयमुपगमितः क्षान्तिमन्दस्मितेन
क्षुभ्यद्वैधात्रसौध ध्वनिगुणितरवः कोऽपि कोपाट्टहासः।।

सं.सू. 8/21

जिसके अनुचर की यह स्थिति है, वह स्वयं यदि क्रुद्ध हो जाय तो क्या दशा होगी? अतः रौद्र रस के परितोष के लिये महामोह के युद्धकौशल

की उपेक्षा करना उपयुक्त नहीं है। आचार्य वेदान्तदेशिक के वचनों द्वारा अर्थ न समझने वालों को भी इसके श्रवण से रौद्र रस की चर्वणा होने लगती है तो विद्वानों के समक्ष उपस्थित करने में क्या हानि है?

पातालक्षिप्त सिन्धुः प्रशकलितकुलक्ष्मामृदुत्कील भूमिः
निर्धूतादित्य चन्द्र द्युतिगण निबिडध्वान्तनीरन्ध्रदिक्कः।
वैधः सौधप्रभेदी विघटित पवनस्कन्ध पर्यस्ततारः
प्रारब्धोऽसौ विवेक प्रतिरथिनि महानाहवे मोहवेगः।।

सं.सू. 8/96

भयानक रस

इस रस के विषय में धनञ्जय ने लिखा है

विकृत स्वरसत्वादेर्भयभावो भयानकः
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्य लक्षणः।।
दैन्य सम्भ्रमसंमोहत्रासादिस्तत्सहोदरः।।

दशरूपक 4/80

अर्थात् विकृत (डरावने) शब्द अथवा सत्व (पराक्रम, प्राणी, पिशाच आदि) आदि (विभावों) से उत्पन्न होने वाला भय नामक स्थायी भाव ही (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है। सारे शरीर का कांपना, पसीना छूटना, मुँह सूख जाना, रङ्ग फीका पड़ जाना (वैवर्ण्य) आदि इसके चिन्ह (कार्य, अनुभाव) होते हैं। दीनता, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में भयानक रस का रमणीय स्थल अनुसन्धेय है। काम घबड़ाकर चारों ओर देखते हुये कहता है कि हम लोगों को अब पीछे की ओर पैर बढ़ाना चाहिये क्योंकि आज शक्ति सम्पन्न होकर विवेक हमारे व्यूह का भेदन कर रहा है। इस पर बसन्त कहता है कि तुम तीनों (काम, क्रोध, लोभ) में से यदि किसी का अनिष्ट हुआ तो सब नष्ट हो जायेगा। उक्त स्थल वेदान्तदेशिक के शब्दो में ही पढ़ने योग्य है। कामः (सान्तस्त्रासं परिवृत्याव लोकच्य)

पश्चात्पदानि प्रतिक्षिप्यन्तामस्माभिः अद्यहि,

अनिद्राण प्रज्ञा सहज बलधीराद्भुतगति-

स्तितार्तक्षा सन्तोषस्थिरतरतनुत्राण्घटितः।

प्रयुक्तं केनापि प्रणवरथमास्थाय पुरतो

विवेकः प्रत्युद्यन् विघरटयति मे व्यूह घटनाम्।।

सं.सू. 4/58

(सर्वे भयं नाटयन्ति)

बसन्तः युष्मासु त्रिषु कस्यचिद्यदिविपत्स्यते केनचित्

त्यक्ष्यत्येव हि भक्तजीवतितया मोहः स्वयं जीवितम्।

सद्यश्चैनमनुभ्रियेत नियतं तदवल्लभा दुर्मति

स्तत्सम्प्रत्यपसर्पणं क्षममितः क्षिप्रं विवेकास्पदम्।।

सं.सू. 4/59

इस स्थल पर विवेक द्वारा कामादि में भय तथा उनके अनिष्ट से महामोह पक्ष के नाश का भय दिखाया गया है। इससे भयानक रस का परिपोष होता है।

अद्भुत रस

प्रस्तुत नाटक में अगस्त्य ऋषि का वर्णन नाटककार ने किया है जिसमें अद्भुत् रस का स्फुरण हुआ है -

विन्ध्यस्तम्भ प्रकट महिमा विष्वगाचान्त सिन्धुः

कुम्भीसूनुर्दनुज कवलग्रास दीप्तोदराग्निः।

नाकाधीशन्न हुषभुजगीकारदुर्वारशक्ति

ब्रह्मपत्यं मुनिरिह बसन्भ्राजते मुक्तकल्पः।।

सं.सू. 6/56

विन्ध्य का रोकना, समुदाय, वातापि भक्षण, नहुष को शाप आदि असाधारण कार्यों से अद्भुत् रस का परिपोष होता है।

अन्यत्र नरसिंह भगवान के नखचन्द्र की अद्भुत छटा नाटककार ने प्रस्तुत किया है -

दम्भोलिश्रेणिदीव्यत्खरनखरमुख क्षुण्ण दैतेयवक्षो

निष्ठ्यूतासृ बस्रवन्तीभरितदशदिशादर्शितापूर्व सन्ध्यः।

स्वामिध्वंस प्रकुप्यत्सुररिपुपृतना स्तोभरूपं स एष

ब्रह्मास्तम्बैकचन्द्रो बहुभिरिह करैरन्धकारं निरून्धे।।

सं.सू. 7/38

वीभत्स रस

दशरूपक में इस रस के विषय में यह कहा गया है कि वीभत्स रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव से होता है। यह तीन प्रकार का होता है-(क) कीड़े, दुर्गन्ध, वमन आदि (विभावों) से होने वाला उद्वेगी वीभत्स होता है (ख) रूधिर, अंतड़िया, हड्डी (कीकस), मज्जा (वसा), मांस आदि (विभावों) से होने वाला क्षोभण वीभत्स तथा (ग) जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य से उत्पन्न होने वाला घृणाशुद्ध वीभत्स होता है। यह नाक सिकोड़ना मुँह फेरना (विकूणन) आदि अनुभावों से युक्त होता है तथा इसमें आवेग, व्याधि (आर्ति) शङ्का आदि व्यभिचारी भाव हुआ करते हैं

वीभत्सः कृमियूतिगन्धिवम थुप्रायैर्जुगुप्सैकभू -

रूद्वेगी रूधिरान्त्र कीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।

वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो

नासावक्त्र विकूणनादिभिरिहा वेगार्तिशङ्कादयः।।

दशरूपकम् 4/73

प्रस्तुत नाटक में इस रस के उदाहरण देखे जा सकते हैं। हम जानते हैं कि संसार में सबसे आकर्षक वस्तु कामिनी और कञ्चन है। कामिनी से विराग होने के लिये उसके कुत्सित रूप का चित्रण कवि नारद और तुम्बुरू ऋषि द्वारा कराता है -

नारद : हन्त, जुगुप्सनीयाः सम्प्रति याषितः संवृताः।

तुम्बुरू :- उचितमैवेतत्।

ब्रह्मेन्द्रपतिनन्द्यनां वपुरप्सरसामपि।

त्वगसृङ्मांसभेदोऽस्थिमज्जा शुक्लमयं न किम्।।

सं.सू. 8/62

किंच्,

वर्ष्मेदं सप्तधातु त्रिविधमलमयं योनियुग्मं प्रसूतं

चातुर्विध्योपपन्नस्थिरचरविविधाहार सारात्मकं च।

इत्थंत्वेऽनन्तदोषाकार इति मुनिभिघोषितायोषिदाख्या

मीमांस्या मांसरेतोरूधिर कफवसनिर्मिता चर्मभस्त्रा।।

सं.सू. 8/63

इत्यादि द्वारा स्त्री को मांस, रेत, रक्त, कफ आदि से निर्मित चमड़े की भाथी कहने में घृणा लगती है। यही साहित्य जगत् में जुगुप्सा पदवाच्य स्थायीभाव परिपुष्ट होकर वीभत्स रस के रूप में परिणत हो जाता है।

सङ्कल्पसूर्योदय में अलङ्कार

प्रस्तुत नाटक में वेदान्तदेशिक ने अलङ्कारों को यथोचित महत्व दिया है। अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति है – 'अलङ्करोति इति अलङ्कारः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ या तत्व का नाम अलङ्कार है। जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं, इसलिये अलङ्कार कहलाते हैं उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास, उपमा अादि काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करते हैं, अतः अलङ्कार कहलाते हैं। अलङ्कार अलङ्कार्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्व है,

स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्व नहीं। जो स्त्री या पुरूष अलङ्कारविहीन हैं, वह भी मनुष्य हैं, पर जो अलङ्कारयुक्त है वह अधिक उत्कृष्ट समझे जाते हैं। इसी प्रकार काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अपरिहार्य नही है। वे यदि हैं तो काव्य के उत्कर्षाधायक होगें अन्यथा काव्य की कोई हानि नहीं होगी। इसलिये अलङ्कारों को काव्य का अस्थिर धर्म माना गया है। यही गुणों तथा अलङ्कारों का भेदक तत्व है। गुण काव्य के स्थिर धर्म हैं, काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य हैं, परन्तु अलङ्कार स्थिर या अपरिहार्य धर्म नहीं, केवल उत्कर्षाधायक हैं। उनके बिना भी काव्य में काम चल सकता है। अतः काव्य के लक्षण में मम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्काररहित शब्दार्थयुगल को भी काव्य माना है। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के अष्टम उल्लास में अलङ्कार का लक्षण करते हुये लिखा है - (सूत्र 87)

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

अर्थात् अलङ्कार 'जातुचित्' कभी-कभी ही उस रस को अलङ्कृत करते हैं, हमेशा नही। इसलिये ये काव्य के अस्थिर धर्म हैं। 'साहित्यदर्पण' में भी अलङ्कार का लक्षण इसी आशय से किया गया है -

शब्दार्थयोरास्थिराः ये धर्माश्शोभातिशायिनः।

रसादिनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।।

सा.द. 10/1

किन्तु अलङ्कारों को काव्य के अस्थिर धर्म मानने का सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। यह केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है। अलङ्कार सम्प्रदाय अलङ्कारों को काव्य का अपरिहार्य स्थिर तत्व मानता है। उसके मत में अलङ्काररहित काव्य की कल्पना उष्णतारहित अग्नि की कल्पना के समान ही उपहासयोग्य है। इसी भाव को व्यक्त करते हुये महाकवि जयदेव ने अपने 'चन्द्रालोक' में लिखा है -

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृति।

असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृति।।

अर्थात् जो व्यक्ति (मम्मट) अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थ को मानता है, वह उष्णताविहीन अग्नि को क्यों नहीं मानता है?

प्रायः सभी आचार्यो ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है। अलङ्कार शरीर के शोभाधायक होते हैं। इसलिये काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्व की संज्ञा अलङ्कार है। अतः अलङ्कार का आधार शब्द और अर्थ हैं। इसी आधार पर शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुये उभयालङ्कार इन तीन प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की गयी है। शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेद शब्द के परिवर्तनसहत्व या परिवर्तनासहत्व पर निर्भर है। जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कार नहीं रहता है, वहाँ समझना चाहिये कि उस अलङ्कार की स्थिति विशेषतः उस शब्द के ही कारण थी। इसलिये उसे 'शब्दालङ्कार' कहा जाता है। जहाँ शब्द का परिवर्तन करके

दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देने पर भी उस अलङ्कार की सत्ता बनी रहे, वहाँ अलङ्कार शब्द के आश्रित नहीं, अपितु अर्थ के आश्रित होता है, इसलिये उसको 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है। इस प्रकार जो अलङ्कार शब्द परिवृत्ति को सहन नहीं करता, वह शब्दालङ्कार और जो शब्द परिवृत्ति को सहन कर सकता है, वह अर्थालङ्कार होता है।

इस प्रकार वेदान्तदेशिक के प्रस्तुत नाटक में रसानुकूल जो अलङ्कार अवतरित होते गये हैं, उनका प्रयोग उन्होंने अनियंत्रित रूप में किया है। इसलिये अर्थालङ्कार तो इस काव्य में भरे पड़े है। शब्दालङ्कारों के प्रयोग में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय तो अवश्य दिया है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे शब्दालङ्कारों के अधिक प्रयोग के पक्ष में नहीं थे।

भाषा पर वेदान्तदेशिक का पूर्ण अधिकार था। इसी कारण भावों के अनुसार भाषा स्वयं अवतरित होती गयी है। अलङ्कार उनके पोषण में समर्थ हुये हैं। वेदान्तदेशिक अतिकठिन सन्दर्भ रूप सम्मत पदों के प्रयोग में जितने कुशल थे, उतने ही सिद्धहस्त कोमल पदों के गुम्फन में भी थे। भावानुसार अतिकठिन और अतिकोमल पदावली का परित्याग करके मध्यम कोटि के पदों का प्रयोग भी उन्होंने बड़ी निपुणता से किया है। उनके इस गुण की प्रशंसा विद्वज्जन करते रहे हैं -

गौडवैदर्भपाञ्चालमालाकार सरस्वतीम् ।

यस्य नित्यं प्रशंसन्ति सन्तः सौरभवेदिनः।।

सं.सू. 1/12

इस प्रकार अलङ्कारों के विषय में संक्षिप्त परिचय देकर अब प्रस्तुत नाटक के अन्तर्गत आये हुये अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया जायेगा।

अनुप्रास

वर्णो की समानता (आवृत्ति) अनुप्रास[214] है। स्वरों का भेद होने पर केवल व्यञ्जनों की समानता ही यहाँ वर्णो की समानता से अभिप्रेत है। रसादि के अनुकूल वर्णो का प्रकृष्ट सन्निवेश ही 'अनुगतः प्रकृष्टश्च न्यासः' इस व्युपत्ति के अनुसार अनुप्रास कहलाता है। वर्णो की यह आवृत्ति शब्द के आदि, अन्त या मध्य में भी हो सकती है। अनुप्रास अलङ्कार के दो प्रमुख भेद हैं –

छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास।

अनेक व्यञ्जनों का सकृत् अर्थात् एक बार सादृश्य छेकानुप्रास है तथा एक वर्ण का या अनेक व्यञ्जनों का एक बार या बहुत बार का सादृश्य अर्थात् आवृत्ति वृत्यनुप्रास है।[215] छेकानुप्रास में व्यञ्जनों की सकृदावृत्ति होने के कारण उतना अधिक चमत्कारित्व नहीं आता है, जितना कि वृत्यनुप्रास में आता है।

प्रस्तुत नाटक में छेकानुप्रास का उदाहरण देखा जा सकता है –

भूपसीरपि कलाः कलङ्किताः

प्राप्य कश्चिदपचीयते शनैः

[214] वर्णसाम्यमनुप्रासः। का0प्र0 9/79

[215] सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः। का0प्र0 9/79

एकयापि कलया विशुद्धया योऽपि

कोऽपि भजते गिरीशताम्।।

इस श्लोक में क्, ल्, च्, क्, प्, भ् आदि व्यञ्जनों की सकृदावृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास का उदाहरण –

विटविदूषक गायक वैशिकैः

विषमितेव विभाति वसुन्धरा।

क्व नु निवेशमुपेत्य परं पदं

विमृशता भवितत्यमिहलक्षणम्।।

सं.सू. 6/39

तथा एक अन्य –

निकटेषु निशामयामिनित्यं

निगमान्तैरधुनाऽपि मृग्यमाणम्।

यमलार्जुनदृष्ट बालकेलिं

यमुनासाक्षिक यौवनं युवानम।।

सं.सू. 7/75

इन सुन्दर पदावली सम्पृक्त प्रसादगुणपूर्व श्लोकों में 'व्' और 'न्' की आवृत्ति अत्यंत ही मनोहारी रूप में वर्णित है।

प्रस्तुत श्लोकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक में वेदान्तदेशिक ने अनुप्रास अलङ्कार के प्रयोग में प्रवीणता प्राप्त की थी क्योंकि

इन जगहों में न तो भावबोधकता में कोई त्रुटि मालूम पड़ती है और न ही रसानुभूति में ही बाधा होती है।

यमक अलङ्कार

काव्यप्रकाश में मम्मट ने इसके लक्षण में कहा है कि अर्थ होने पर (नियमेन) भिन्नार्थक वर्णो का उसी क्रम से पुनः श्रवण यमक नामक अलङ्कार होता है।[216]

प्रस्तुत नाटक में वेदान्तदेशिक ने यमक अलङ्कार का प्रयोग न के बराबर किया है यदि कहीं स्वयं आ गया है तो उसे निकालने का प्रयत्न भी उन्होंने नहीं किया है परन्तु यमक दिखाने के लिये उसका प्रयोग नहीं ही हुआ है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत नाटक में यमक अलङ्कार के प्रयोग का कोई प्रयास नहीं किया गया है, फिर भी जो यमक अलङ्कार के रूप में इस नाटक में उदाहरण हैं उन्हें प्रस्तुत करना समीचीन है।

इसके पाद, पादांश, अर्द्धश्लोक और श्लोक की आवृत्ति के कारण अनेक भेद हो जाते हैं।[217] कभी प्रथम पाद द्वितीयादि किन्हीं पादों में, द्वितीयपाद तृतीयादि पादों में, तृतीय पाद चतुर्थ पाद में अथवा प्रथम अन्य तीनों पादों में आवृत्त होता है। कभी प्रथम पाद चतुर्थ में और द्वितीयपाद तृतीय में आवृत्त होता है। इसी प्रकार पाद भी द्विधा विभक्त होकर विभिन्न रूपों में

---

[216] अर्थेसत्यर्थ भिन्नानां वर्णनां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।। का0प्र0 9/83

[217] पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्। का0प्र0 9/83

आवृत्त हुआ करता है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार यह काव्य के अन्दर गाँठ के समान है, अतः इसके भेद और लक्षण न करना ही उपयुक्त होगा।[218]

सङ्कल्पसूर्योदय में यमक का उदाहरण –

द्वितीय अध्याय का यह श्लोक है –

नाथाश्लेषसनाथनश्रुति वधूवैधव्यखेदच्छिदं

व्यासो हास रसोचितो विगलितः प्राचीकशन्नैषचेत्।

प्राचीनां नयपद्धति यतिपतिः प्राचेतसश्चेतसः

क्लृप्तः केलिशुकश्शकस्स मुधा बाधाय बोधायनः।।

सं.सू. 2/46

प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध में चेतसः, शुकः, धाय आदि वर्णसमूहों की आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ यमक अलङ्कार है।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत नाटक के पञ्चम अङ्क में भी देखा जा सकता है –

निरवधि गुणग्रामे रामें निरागसि वागसि –

स्फुरणमुषितालोका लोका वदन्ति सदन्ति के।

वरतनुहतिं वालिद्रोहं मनागप् सर्पणं

परिमित गुणे स्पष्टयवद्येमुदा किमुदासते।।

प्रस्तुत श्लोक में रामे, गसि, लोका, दन्ति और मुदा वर्णसमूह की आवृत्ति होने के कारण यमक अलङ्कार है।

---

[218] तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम। का0 प्र0

श्लेष अलङ्कार

अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द (समानाकार होने से) एक साथ उच्चारण (रूप दोष घटित सामग्री) के कारण जब परस्पर मिलकर एक हो जाते है। तब वह श्लेष अलङ्कार होता है। यह अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।[219]

सङ्कल्पसूर्योदय नाटक में श्लेष अलङ्कार के अनेक स्थल विद्यमान हैं- यथा -

निर्धूत निखिल दोषा निरवधि

पुरूषार्थ लम्भन प्रवणा।

सत्कविभणितिरिव त्वं

सगुणालङ्कार भावरसजुष्टा।।

सं.सू. 1/64

प्रस्तुत श्लोक में विवेक अपनी पत्नी सुमति को सत्कवि की उक्ति के समान कहता है क्योंकि वह निखिल दोष शून्य है, पुरूषार्थ को प्राप्त करने के लिये तत्पर रहती है और गुण, अलङ्कार, रस तथा भावों से परिपूर्ण है। इसमें दोष, पुरूषार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, भाव पदों के एक बार प्रयुक्त होने पर भी सुमति पक्ष में संशयादि - विपर्ययादि, दोष, मोक्ष, पुरूषार्थ, आर्जव आदि

---

[219] वाच्य भेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः। शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।। का0प्र0 9/84

गुण हारादि अलङ्कार रसोपहित विषयानुराग अर्थ होता है, और सत्कवि भणिति के पक्ष में शब्दार्थगत दोष, यश आदि पुरूषार्थ, ओज, प्रसादादि गुण, उत्प्रेक्षा-उपमादि अलङ्कार, निर्वेदादि भाव तथा श्रृङ्गारादि रस होगा। अतः यहाँ श्लेष अलङ्कार है।

निम्नलिखित श्लोक में भी उग्रसेन, कृष्ण तथा मोह पुरूष और विवेक पक्ष में शब्दों के एक बार प्रयुक्त होने पर भी भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते है-

मूलोच्छेदमयोज्झितेन महता मोहेन दुर्मेधसा

कंसेन प्रभुरूग्रसेन इवनः कारागृहे स्थापितः।

विख्यातेन विवेक भूमिपतिना विश्वोपकारार्थिना

कृष्णेनेव बलोतरेण घृणिना मुक्तश्रियं प्राप्स्यति।।

सं.सू. 1/96।।

सङ्कल्पसूर्योदय के नवम अङ्क में भी श्लेष अलङ्कार का उदाहरण देखा जा सकता है -

बलदर्शनमण्डपं श्रुतीनां बहुभि-

र्भावितवैभवं प्रमाणैः

अवधुतरजस्तभस्कमेतत्

सुमतेस्तत्तवमयंविभातिसौधम।।

सं.सू. 9/51

पुनरूक्तवदाभास

श्री मम्मट ने काव्यप्रकाश में इस अलङ्कार के विषय में लिखा है कि भिन्न रूप से कहीं-कहीं दोनों सार्थक और कहीं दोनों या एक के अनर्थक शब्दों में आपाततः समानार्थकता की प्रतीति जहाँ होती है, वह पुनरूक्तवदाभास अलङ्कार होता है।[220] तथा वह शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने वाला होता है। सङ्कल्पसूर्योदय में इसका उदाहरण विद्यमान है। यथा -

सारः सारस्वतानां शठरिपुभणितिः शान्तिशुद्धान्तसीमा

मायामायामिनीमः स्वगुणविततिभिर्बन्धयन्ती धयन्तीं।

पारंपारंपरीतो भवजलधि भवन्मज्जनानां जनानां

प्रत्यक्प्रत्यक्षयेन्नः प्रतिनियतरमासंनिधानं निधानम्।।

सं.सू. 6/61

यहाँ सारः सार इत्यादि पदों में आपाततः एकार्थ प्रतीति हो रही है अतः पुनरूक्तवदाभास अलङ्कार है।

उपमा अलङ्कार

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपमा के लक्षण में लिखा है कि उपमान और उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा अलङ्कार कहलाता है।[221]

'सङ्कल्पसूर्योदय' में उपमा के अनेक उदाहरण वेदान्तदेशिक ने दिया है जिससे कुछ यहाँ प्रस्तुत है -

पत्यौ दूरं गतवति खौ पद्मनीव प्रसुप्ता

---

[220] पुनरूक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा। का0प्र0 9/86

[221] साधर्म्यमुपमा भेदे। का0प्र0 10/87

म्लानाकारा सुमुखि निभृता वर्तते बुद्धिरम्बा।

मायायोगान्मलिनितरूचौ वल्लभे तुल्यशीला

राहुग्रस्ते तुहिनकिरणे निष्प्रभा यामिनीव।।

सं.सू. 1/74

अपने स्वामी सूर्य के दूर चले जाने पर सकुचित कमलिनी के समान बुद्धि अपने पति के दूर चले जाने पर (जड़ता आ जाने के कारण) निश्चेष्ट हो गयी है। चन्द्रमा के राहुग्रस्त हो जाने पर निष्प्रभ रात्रि के समान माया के सम्पर्क से मलिनकान्ति (तिरोहित आनन्द प्रकाशादि) पति-पुरूष में (बुद्धि) समान आचरण करती है।

यहाँ बुद्धि को कमलिनी और यामिनी के समान बताया गया है। अतः यहाँ उपमा अलङ्कार है।

इसी तरह उपमा आदि का प्रयोग करके अनेक गूढ़ रहस्य और सूक्ष्म तत्वों को स्पष्ट करने के लिये वेदान्तदेशिक ने स्थान-स्थान पर प्रयास किया है। दार्शनिक दृष्टान्तिक हुआ करता है। दृष्टान्त के द्वारा वह सूक्ष्म बातों को लोगों के सामने प्रस्तुत करता है। जैसे उक्त श्लोक मे ही देखिये। पुरूष के संसार में आसक्त हो जाने पर बुद्धि की क्या स्थिति होती है, इसे समझना और समझाना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है। कमलिनी और यामिनी के संकोच, निष्प्रभता आदि धर्म से बुद्धि का संकोच और मालिन्य बड़े सरल सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया जो कि सबकी समझ में आसानी से आ जाता है। एक अन्य श्लोक में उपमा का प्रयोग देखें -

मिषतो विलोभयन्ती मृगतृष्णाभिस्तरङ्गिताभिरसौ।

मरूभूमिरूज्झितरसा दुर्जनपरिषदिव दूरपरिहार्या।।

सं.सू. 6/40

पुनः एक श्लोक में उपमा का प्रयोग -

प्रमाणप्रत्ययादत्र कल्पितान्यविकल्पतः

अपि भूतानि भावीनि भवन्तीव भवन्ति नः।।

सं.सू. 7/5

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में अनेकों उपमा के उदाहरण भरे पड़े हैं।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार

मम्मटाचार्य ने अपनी पुस्तक काव्यप्रकाश में उत्प्रेक्षा के लक्षण में लिखा है कि प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है।[222]

सङ्कल्पसूर्योदय के षष्ठ अङ्क के इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का लक्षण प्रकट होता है -

प्रत्यङ्गकम्पपरिनर्तित कंचुकेऽस्मिन्

पर्याप्तरूढपलिते परतन्त्रपिण्डे।

अक्षीणरागमजरामजीविताशं

मामेव हन्त हसतीव ममान्तरात्मा।।

सं.सू. 6/4

---

[222] सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। का0प्र0 10/92

रूपक अलङ्कार

काव्य प्रकाश में इसका लक्षण प्रस्तुत है जिसमें कहा गया है कि – अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रसिद्ध भेदवाले उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक अलङ्कार कहलाता है।[223]

रूपक अलङ्कार के कई उदाहरण वेदान्तदेशिक कृत सङ्कल्पसूर्योदय में दृष्टिगत हैं। यथा –

क्वापि कल्पान्तवेशन्ते खुरदघ्ने समुद्धताम्।

वहते मेदिनीमुस्तां महते पोत्रिणे नमः।।

सं.सू. 7/29

खुरप्रमाणे प्रलयोदधौ समुद्धतां मेदिनीरूपा मुस्तां तृणकन्दविशेषं वहते महते पोत्रिणे महावराहाय नमः। अत्रोदधेः पल्वलत्वेन रूपणम्।

समासोक्ति अलङ्कार

इस अलङ्कार के विषय में कहा गया है कि प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से न कि विशेष्य (पद) के सामर्थ्य से जो अप्रकृत का कथन है वह समास अर्थात् संक्षेप से (प्रकृत तथा अप्रकृतरूप) दोनों का कथन होने से समासोक्ति अलङ्कार कहलाता है।[224] सङ्कल्पसूर्योदय में इसका उदाहरण आया है –

मुकुलयति वितित्सां मोहविध्वंसमिच्छन्

---

[223] तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। का0 प्र0 10/93

[224] परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः। का0प्र0 10/97

विमृशति निगमान्तान् वीक्षते मोक्षधर्मान्।
निशमयति च गीतां नित्यमेकान्तभक्त्या
गुणपरिषदवेक्षी गुप्तमन्त्रो विवेकः।।

निदर्शना अलङ्कार

काव्यप्रकाशकार के अनुसार जहाँ वस्तु का असम्भव या अनुपपद्यमान सम्बन्ध (प्रकृत का अप्रकृत के साथ) उपमा का परिकल्पक होता है, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।[225]

प्रस्तुत नाटक में इस अलङ्कार का उदाहरण देखा जा सकता है –

सौहार्दमित्थमनवाप्य सहोदराणा –
मासीत्स्वमूलगुण भेदवशाद्विरोधः।
एक प्रजापतिभुवामपि वैरबन्धः
स्वात्मावधिः स्वयंमुदेति सुरासुराणाम्।।
सं.सू. 1/48

विनोक्ति अलङ्कार

मम्मट इस अलङ्कार के लक्षण में लिखते है कि जहाँ दूसरे के बिना दूसरा अर्थ सुन्दर न हो अथवा असुन्दर हो वहाँ विनोक्ति अलङ्कार होता है।[226] सङ्कल्पसूर्योदय में इसका उदाहरण देखें –

---

225 निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः। का0प्र0 10/97

सौवाकृतिस्तव त एव गुणानुभावाः

स्यादेव सागरसुता लिखिता त्वमेव।

शिंजानमंजुमणिनूपुरमेखलस्ते

सञ्चार एष चतुरों यदि नान्तरायः।।

सं.सू. 7/26

परिकर अलङ्कार

काव्यप्रकाशकार के अनुसार अभिप्राययुक्त विशेषणों के द्वारा जो किसी बात का कथन करना है, वह परिकर अलङ्कार कहलाता है।[227] प्रस्तुत नाटक में इस अलङ्कार का उदाहरण निम्नलिखित है –

सत्वस्थान्निभृतः प्रसादय सतां वृतिं व्यवस्थापय

त्रस्यब्रह्ममविदागसस्तृणमिव त्रैवर्गिकान्भावय।

नित्ये शेषिणि निक्षिपन्निजभरं सर्वसहे श्रसखे

धर्मधारय चातकस्य कुशलिन् धारा धरैकान्तिनः।।

सं.सू. 2/38

---

[226] विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः का0प्र0 10/113

[227] विशेषणैर्यत्साकूतैरूक्तिः परिकरस्तु सः। का0प्र0 10/118

षष्ठम - अध्याय

प्रमुख प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता एवं महत्व

षष्ठ अध्याय – प्रमुख प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता एवं महत्व

(क) प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति –

प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है–प्रतीयते ज्ञायते वा इति प्रतीकम्। प्रति+इण् +कीकच् 'अलीकादयश्च' सूत्र से[1]। इस प्रकार जिससे जाना जाय, वह प्रतीक कहलाता है। इसलिये प्रतीक शब्द अङ्ग, अवयव, शरीर, मूर्तिवाची सिद्ध होता है।

(ख) प्रतीक नाटक शब्द की व्याख्या–

प्रबोधचन्द्रोदय, सङ्कल्पसूर्योदय आदि नाटकों में अमूर्त भावों का मूर्तिकरण या मानवीकरण किया गया है। ये अमूर्त पात्र काम, क्रोध आदि भावनाओं के प्रतीक या द्योतक हैं। भौतिक जगत् में मूर्त में इनकी सत्ता उपलब्ध होती नहीं है। अतः इन नाटकों को प्रतीक नाटक कहा गया। इन नाटकों में इस प्रकार कल्पित मूर्त पात्रों को रङ्गमञ्च पर लाया जाता है और इनके माध्यम से सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है। इन नाटकों का सामान्य नाटकों से अलग एक प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि सामान्य नाटकों के पात्र भौतिक जगत् के स्त्री-पुरूष आदि अथवा जगत् के देवी-देवता आदि होते हैं जबकि इन नाटकों के पात्र अमूर्त, ऐतिहासिक एवं पौराणिक मानवीय

---

[1] उणादि प्रकरण-सिद्धान्त कौमुदी 4/65

भावनायें भी होती हैं। रसाभिव्यञ्जना की हेतु ये भावनायें मानवपात्रों की भूमिका में प्रस्तुत की जाती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि भावनाओं को रङ्गमञ्च पर लाने में इस रसाभिव्यञ्जन के अतिरिक्त और कौन सा प्रयोजन हो सकता है-(1) मानव रूप में पात्रों का चित्रण करने से विषयबोध में सहृदय को सुविधा होती है, (2) साथ ही दुरूह अमूर्तता के हट जाने से गूढ दार्शनिक तत्व बोध में एक विशेष चमत्कार आ जाता है और (3) अमूर्त के मूर्तिकरण में काव्य की एक नवीन विधा का भी एक अद्‌भुत् आकर्षण है।

मूर्तत्व की ओर नाटक रचना की यह अभिव्यक्ति व अभिरूचि इन नाटकों को अन्य नाटक की अन्य विधाओं से पृथक् निस्सन्देह एक अद्‌भुत् वैशिष्ट्य प्रदान करती है। फिर भी नाटक के रचना प्रकार में अन्य नाटकों से इसमें कोई और भेद नहीं आता कदाचित् इसीलिये प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रकार के नाटकों का भिन्न रूप में वर्गीकरण नहीं किया गया। न ही इनके लिये कोई अन्य शास्त्रीय पारिभाषिक नाम दिया गया। इस कारण 'अमूर्त के मूर्तत्व' पर मूलतः आधारित इस प्रकार की रचनाओं का मूर्तिवाचक प्रतीक शब्द के द्वारा नामकरण किया जाना सर्वथा सत्य प्रतीत होता है।

(ग) प्रतीक नाटक और सामान्य नाटक-

संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक नाटकों का अपना विशिष्ट महत्व है। वाङ्मय के अन्तर्गत श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की लोकप्रियता स्वीकार की गयी है। वस्तुतः जनमानस के सबसे अधिक निकट प्रवेश करने वाली साहित्य

विधा नाट्य विधा ही है। इससे लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रसोपलब्धि का अवसर मिलता है। दर्शकों में शीघ्र ही प्रतिक्रिया भी होती है। ऐसा काव्य के किसी और रूप के साथ सम्भव नहीं है। इतना ही क्यों साहित्य-इतिहास के प्रारम्भ में तो सम्पूर्ण वाङ्मय को ही नाटक माना गया। काव्य-सम्बन्धी अधिकांश चिन्तन-मनन नाटक को केन्द्र में रखकर किया गया है। आज भले ही उन मतों या सिद्धान्तों को सम्पूर्ण काव्य के विषय में माना जाय। किन्तु उनकी रचना के समय उनके आधार रूप में नाटक साहित्य ही उभरता है। हमारे वाङ्मय के आदितत्व चिन्तक भरतमुनि ने अपने काव्य सम्बन्धी चिन्तन-मनन को नाटक तक ही सीमित रखा। अन्य साहित्य रूपों की चर्चा तक नही की। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों से यही पता चलता है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त कहीं भी कुछ नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में नाटक उस समय साहित्य का पर्याय बन गया।[2] नाटक कहने से सम्पूर्ण साहित्य का बोध होता था। इसीलिये केवल नाटक को केन्द्र में रखकर बनाये गये सिद्धान्तों को आज हम सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन में अच्छी तरह लागू कर सकते हैं।

यद्यपि इन प्रतीक नाटकों का बाह्यरूप साधारण नाटकों से भिन्न नहीं था फिर भी इनमें कथ्य का लम्बा अन्तराल अवश्य ही देखने को मिलता है। सामान्य नाटक जहाँ अपने कथ्य में लौकिक जीवनानुभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं वहाँ प्रतीक नाटकों का विषय मनुष्य के तार्किक और दार्शनिक

---

[2] मृदुललितपदाट्यं गूढशब्दार्थ हीनं, जनपद सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययौज्यम्।
बहुकृतंरसमार्ग सन्धिसन्धानयुक्तं, सभवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।। नाटय शास्त्र 16/128

सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। साधारण नाटक जहाँ मनुष्य की रागात्मक वृत्ति का परितोष करके ही जाते हैं वहाँ प्रतीक नाटक मनुष्य की उच्च बौद्धिक तार्किक वृत्ति को भी सन्तुष्ट करने में सफल होता है। दर्शकों में राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि मनोभावों को उत्तेजित करके अलौकिक आनन्द में ही साधारण नाटकों की सफलता है। वे मनुष्य के मानसिक मनन-चिन्तन को प्रभावित नहीं कर सकते, वे बौद्धिक प्रतिभा को आन्दोलित नहीं कर पाते। लेकिन प्रतीक नाटक तत्व-चिन्तकों के मन पर भी खलबली मचा देता है। वह बड़े-बड़े तार्किकों और दार्शनिकों को पुनश्चिन्तन के लिये चुनौती देता है।

साधारण नाटकों की अपेक्षा प्रतीक नाटकों का महत्व इस दृष्टि से भी है कि साधारण नाटक जहाँ लौकिक चरित्रों द्वारा मानसिक भावों को पात्रों में जागृत कर देता है, वहीं प्रतीक नाटक सभी तरह के मानसिक भावों को रूपायित कर देता है। यह प्रतीक नाटकों की मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि उसके पात्र मानसिक भावनाओं के प्रतीक बनकर अवतरित होते हैं। पात्रों का यह प्रतीकीकरण केवल मानसिक भावनाओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी सीमा में शास्त्र, रोग, औषधि इत्यादि विविध विषय समाहित हो जाते हैं। इन सभी शास्त्रों, रोगों, औषधियों और भावनाओं के प्रतीकीकरण में प्रतीक नाटकों का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि लौकिक चरित्रों को चित्रित करना तो आसान है किन्तु अमूर्त भावनाओं या शास्त्रों को एक सुस्पष्ट आकार देना कठिन कार्य है। और फिर ऐसे सूक्ष्म भावों को तो, जिनके स्वरूप का भी

कोई स्थिर निर्णय नहीं हो सका हो, पात्र रूप में कल्पित कर देना बड़े मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य की बात है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतीक नाटकों ने संस्कृत वाङ्मय में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। साहित्य उपदेश का साधन माना जाता है और उपदेश भी कैसा जो मधुर और प्रिय है। आचार्य मम्मट ने कहा है- 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'[3]। तात्पर्य यह है कि साहित्य अपनी स्त्री के सुमधुर सिखावे की प्रकृति का होता है। आज साहित्य के प्रयोजन सम्बन्धी बहुत विवाद के पश्चात् भी हमें इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य मनुष्य को सदुपदेश देता है। प्रतीक नाटकों के प्रणयन में हमारी समझ से साहित्य सम्बन्धी यही तत्व प्रेरक के रूप में रहा होगा। वस्तुतः साधारण नाटकों में अधिक सुविधा रहती है। साधारण नाटकों में उपदेश जहाँ ध्वनित होकर रह जाता है वहाँ प्रतीक नाटकों में वह अभिधेय बनकर प्रकट हो जाता है- 'लौकिक राजा मोह में पड़कर पथभ्रष्ट हो गया' इससे मोह के प्रति घृणा पैदा करने की अपेक्षा जीवराज अपने शत्रु मोहराज से परास्त हो गया और इस तरह पथभ्रष्ट हो गया, इससे मोहराज के प्रति घृणा पैदा करना अधिक स्वाभाविक सरल और स्पष्ट है। साधारण नाटकों में सभी मनोभावों को दर्शक पर्दे पर प्रत्यक्ष चलते फिरते देख लेते हैं जिससे दर्शकों को एक विचित्र औत्सुक्य बना रहता है साथ ही उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी होता है।

---

[3] काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका, 2

प्रतीक नाटकों की कथावस्तु अपने आकार-प्रकार में कोई बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं होती उसका महत्व अपने अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति में होता है। उनमें किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर उनकी मनोरञ्जनीय विवेचना की जाती है। इसीलिये प्रतीक नाटकों में कथा का रूप बहुत सुदृढ़ नहीं होता किन्तु महत्वपूर्ण तो होता ही है। यही कारण है कि प्रतीक नाटकों की कथा योजना में नाटककार को काफी सतर्कता बरतनी पड़ती है। कथा तन्तुओं को संयोजित और संघटित करना पड़ता है। यह सब अमूर्त कथानक के कारण ही कठिन होता है। प्रतीक नाटक अगर इन कथा तन्तुओं को सफलता के साथ संघटित कर गया तो निश्चित ही उसका महत्व है अन्यथा वह साधारण नाटकों की तुलना में हेय और तुच्छ ही बना रहेगा।

ठीक यही कठिनाई प्रतीक नाटकों की रसाभिव्यक्ति को लेकर है। रस काव्य की आत्मा माना गया है। इसीलिये सभी काव्य कृतियों में रसों की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार की गयी है। नाटकों में भी रस को सर्वातिशायी स्थान प्राप्त है। रसाभिव्यक्ति का यह सामान्य नियम है कि वह काव्य के भावों से पाठकों का साधारणीकरण दर्शकों और नाटक के अभिनेताओ की स्थिति साम्य के आधार पर ही सम्भव है। इस साधारणीकरण के लिये आवश्यक है कि दर्शक अभिनेता में अपना प्रतिबिम्ब देखें, वह उसकी भावनाओं से मेल खाय और उसकी मनोग्रन्थियों से परिचित हो। जब तक ऐसा नहीं होता अर्थात् दर्शक और पाठक (सहृदय) में ऐक्यस्थापन नहीं होता तब तक पूर्णतः रसाभिव्यक्ति नहीं हो सकती। साधारण नाटकों में यह रसाभिव्यक्ति

सुविधा से चतुर नाटककारों द्वारा करायी जा सकती है क्योंकि उसमें दर्शकों की तरह के ही मांसल चरित्रों को लिया जाता है। उन चरित्रों का वैयक्तिक गठन भी दर्शकों की ही तरह का होता है किन्तु प्रतीक नाटक में यह सम्भव नहीं है। उसमें मानसिक भावनाओं, प्रवृत्तियों और आन्तरिक इच्छाओं जैसे अमूर्त पात्रों की सर्जना करनी पड़ती है। इसीलिये प्रतीक नाटकों के चरित्र साधारण नाटकों के चरित्रों की तुलना में अपने चारित्रिक वैशिष्ट्य की दृष्टि से कम ही ठहर पाते हैं। उनमें साधारण नाटकों के चरित्रों का स्वाभाविक विकास नहीं लक्षित होता है। वे नाटककार के अभीष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों की कठपुतली बन जाते हैं। नाटककार उन्हें जहाँ चाहता है मनमाने तौर पर रख देता है। इस प्रकार चूंकि प्रतीक नाटक के चरित्र अमूर्त और भावनात्मक होते हैं अतः उनके द्वारा दर्शकों में सार्वत्रिक रसाभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि प्रतीक नाटकों में रस की अभिव्यक्ति कराई ही नहीं जा सकती। हाँ यह कार्य दुरूह अवश्य है पर असम्भव नहीं। अगर नाटककार की कल्पना शक्ति और मनोवैज्ञानिक प्रतिभा जागरूक है तो वह अपने अमूर्त पात्र विषयक वर्णनों में भी सजीवता ला सकता है। इस प्रकार जब उसके चरित्र जीवन्त और सक्रिय चित्रित किये जायेंगे तो उन्हे दार्शनिक मतवादों की कठपुतली समझने का भ्रम नहीं होगा। उनमें फिर वही मांसल सौन्दर्य अभिव्यञ्जित होने लगेगा जो साधारण नाटकों के चरित्रों में व्यञ्जित होता है। अब यह नाटककार की प्रतिभा पर ही आधारित है कि वह किस सीमा तक रसोपलब्धि करा सकता है। वह जितनी ही सफल

रसाभिव्यक्ति कर सकेगा, उतना ही सफल नाटककार माना जायेगा। इस दृष्टि से प्रतीक नाटकों का कार्य निश्चित रूप से साधारण नाटकों के रचयिताओं की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है।

(घ) सामाजिक महत्व–

प्रतीक नाटकों के महत्व की बात तब तक पूरी नहीं हो पाती जब तक कि प्रतीक नाटकों की सामाजिक उपादेयता पर विचार न कर लिया जाय। इन नाटकों ने जनमानस पर कैसा प्रभाव छोड़ा है, इस दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति होता है। मनुष्य के राग-द्वेष और उसके मनोजगत् का उद्घाटन साहित्य में होता है। इसीलिये साहित्य का सम्बन्ध मानव जीवन का पथ-प्रदर्शक माना जाता है। इसीलिये प्रतीक नाटकों से भी साहित्य की इसी अभिव्यक्ति की अपेक्षा की जानी चाहिये। इस सन्दर्भ में हमें यह देखना होगा कि प्रतीक नाटक मनुष्य के सामाजिक धरातल को किस सीमा तक प्रभावित या अप्रभावित करते हैं।

प्रतीक नाटकों की इस भूमिका में यह तो मानना ही होगा कि इन नाटकों ने अपने ढंग से समाज के लोगों में जीवन की समरसता जगाने की जगह उनके चिन्तन पक्ष को कहीं अधिक प्रभावित किया है। जीवन की समरसता जगाना साधारण नाटकों का कार्य है और इसके चिन्तन पक्ष को प्रभावित करना दार्शनिक प्रतीक नाटकों का कार्य है। ये दोनो कार्य अपनी-अपनी जगह समान महत्व के हैं। समाज का राग-द्वेष जितना बड़ा सत्य है उतना ही बड़ा सत्य उसका चिन्तन-मनन है। हमें यह कहने में जरा भी

हिचक नहीं है कि इन प्रतीक नाटकों ने अपने समसामयिक समाज को दर्शन के क्षेत्र में बार-बार सोचने पर मजबूर किया होगा।

प्रतीक नाटकों के सामाजिक महत्व का एक दूसरा पहलू भी है जो प्रतीक नाटकों के उद्देश्य से सम्बन्धित है। प्रायः सभी नाटकों में किसी न किसी रूप में दर्शन के प्रश्न उठाये गये हैं। अपने ढंग से उन्हें उत्तरित करने का प्रयास भी किया गया है। भले ही यह प्रयास एक प्रबुद्ध दर्शनवेत्ता के प्रयास की श्रेणी में नहीं आये किन्तु इससे सामान्य जनमानस दर्शन के क्लिष्ट विषयों में रूचि लेना तो सीखता ही है, दर्शन से अपना सम्बन्ध तो जोड़ता ही है और इस प्रकार तत्व चिन्तन की ओर अग्रसर तो होता ही है। प्रतीक नाटकों की यह देन कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी तत्व चिन्तन के आधार पर समाज अपने में गतिशीलता और जीवन्तता का अनुभव कर सकता है।

प्रतीक नाटकों के उद्देश्य का एक और पक्ष भी है और वह है अपवर्ग की प्राप्ति। लगभग सभी नाटकों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपवर्ग की प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है।

वस्तुतः भारतीय तत्व चिन्तन का अधिकांश भाग अपवर्गान्वेषण में लगाया गया है। मनुष्य के चार श्रेय हमारे प्राचीनों ने बताये हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें सर्वाधिक श्रेष्ठत्व मोक्ष को ही प्राप्त करता है वही इन सभी श्रेयों का लक्ष्यत्व प्राप्त करता है इसलिये मोक्ष को ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।

काव्य या साहित्य में भी मोक्ष को लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया है। यद्यपि काव्य के उद्देश्य के रूप में केवल अर्थ, धर्म, काम को ही प्रतिष्ठा मिली है किन्तु मोक्ष सर्वथा उपेक्षित नहीं रहा है और फिर इन प्रतीक नाटकों के साथ तो मोक्ष की सङ्गति इसलिये भी बैठ जाती है क्योंकि इनका विषय तत्वचिन्तन का विषय है। सभी प्रतीक नाटकों में किसी न किसी रूप में मोक्ष को ही अन्तिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिये सङ्कल्पसूर्योदय तो अपवर्ग की प्रतिष्ठा में ही सर्वाधिक प्रवृत्त हुआ है। जिन नाटकों में किसी भक्ति की प्रतिष्ठा है उनमें भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मोक्ष की बात स्वीकार की गयी है। इन सभी नाटकों की अन्तिम अवस्था में नायक ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, अपनी चित्तवृत्तियों से मुक्त होता है, अपनी कुप्रवृत्तियों से पिण्ड छुड़ाता है और इस प्रकार वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है जो मोक्ष की ओर अग्रसर करती है। इस प्रकार जहाँ अन्य साधारण नाटकों में धर्म, अर्थ, काम को लक्ष्य की सिद्धि रूप में स्वीकृति मिली है वहाँ प्रतीक नाटकों में मोक्ष को उद्देश्य के रूप में ग्रहण करना एक सशक्त और महत्वपूर्ण कदम है।

(ड.) राजनीतिक महत्व-

इन प्रतीक नाटकों में काव्य और दर्शन का आधिपत्य होते हुये भी इनमें अपनी प्रभान्विति में तत्कालिक जनमानस की राजनीतिक चेतना स्पष्टता के साथ लक्षित की जा सकती है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध, राजा-मत्री का सम्बन्ध और राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था इन सब की समवेत अभिव्यक्ति इन नाटकों

में हुई है। लगभग अधिकांश नाटककार किसी न किसी राजाश्रय में रहे हैं। राजदरबारी कवि होने के नाते उन्हें राज्य की अच्छी-बुरी सभी बातों का ज्ञान तो रहा ही होगा। वे प्रशासनिक कार्यों में भले ही खुलकर सक्रिय न हुये हों किन्तु प्रशासन में व्यक्तित्व का प्रभाव तो रहा ही होगा। यही कारण है कि दर्शन के विषय पर भी लिखने के लिये इन सभी दरबारी राज्याश्रित नाटककारों ने नाटक विधा का आश्रय ग्रहण किया जिससे की स्पष्टता के साथ राजाओं के जीवन वृत्त को व्यञ्जित किया जा सके। और यही कारण है कि प्रायः सभी नाटकों में इतिवृत्त के चौखटे के रूप में राजाओं का उल्लेख है, उनकी घरेलू अव्यवस्थाओं का उल्लेख है, उनके व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष का उल्लेख है, उनके अत्याचारों का उल्लेख है, उनकी धार्मिक सहिष्णुता और असहिष्णुता का उल्लेख है और उनके संघर्षो का विजय-पराजयों का उल्लेख है।

इन नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा तत्कालिक राजनीति को स्वस्थ और संवर्द्धनशील बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया होगा। इन नाटकों को पढ़कर या देखकर राजाओं में नैतिक मूल्यों के प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न हुई होगी। राजा को अव्यवस्थित होने से सुधारने का एक यह भी रास्ता है-सीधे-सीधे न कहकर उसे कथा के आवरण में व्यक्त कर देना। कथा के आवरण में कही गई बात अधिक शक्तिशाली और स्थायी होती है। वस्तुतः इस दृष्टि से इन नाटकों का महत्व बहुत अधिक है। चाहे मोहराजपराजय हो या धर्मविजयम्, प्रबोधचन्द्रोदय हो या जीवानन्दम्-इन सभी नाटकों में आये हुये संघर्ष तत्कालिक राजाओं के ही व्यक्तित्व के संघर्ष है। यह अति प्राचीन तथ्य है कि पुराने

समय में राजाओं में आये दिन शक्ति और प्रभुसत्ता के लिये संघर्ष होते रहते थे। नाटककारों ने भी इसी संघर्ष को अपना आधार बनाया, क्योंकि उनका रहना-सहना, उठना-बैठना राजाओं के इस संघर्षपूर्ण वातावरण में ही होता था,

(च) धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व -

प्रतीक नाटकों के धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व के सन्दर्भों का उल्लेख भी अपेक्षित है। धार्मिक दृष्टि से तो इन नाटकों का महत्व सर्वविदित है। इन नाटकों द्वारा तत्कालिक जनमानस की धार्मिक प्रवृत्तियों को उभारा गया है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही धर्म हमारे ढाँचे का मेरूदण्ड माना जाता रहा है। धर्म ही वह केन्द्रीय सूत्र है जो हमारे समाज को सन्तुलित और समन्वित करता है। अराजकता और उच्छृंङ्खलता से मुक्ति दिलाता है। इसके अभाव में सामाजिक विसङ्गतियाँ उभरती हैं और मनुष्य का जीवन त्रासद हो जाता है।

कवि या साहित्यकार अपनी प्रज्ञा द्वारा इन तथ्यों को ग्रहण करके नये सिरे से लोगों में धार्मिकता के प्रति आस्था जगाता है, वह धर्म की युगानुरूप व्याख्या करता है और उसमें संशोधन-परिवर्तन करता है। इस प्रकार साहित्यकार या कवि की निश्चित धार्मिक भूमिका होती है।

लगभग सभी प्रतीक नाटकों में अपने-अपने ढंग से यह भूमिका निभाये जाने का प्रयास मिलता है। इनमें से कुछ तो सर्वाधिक रूप में धार्मिकता का महत्व देकर लिखे गये हैं। उदाहरण के लिये धर्मविजयम्, पुरञ्जनचरितम् आदि के नाम लिये जा सकते हैं। धर्मविजयम् में धर्म की प्रधानता मानकर सारी बातें कही गयी हैं। धर्म में आने वाली बाधाओं का उल्लेख है और इनके

समाधान का उल्लेख है, अन्ततः धर्म की विजय का उल्लेख है। दूसरे शब्दों में धर्म विजय का उद्देश्य ही धर्म को प्रतिष्ठित करना है। नाटक विद्या को तो साधनरूप में ही नाटककार ने अपनाया है। इसीलिये नाटक में नाट्यकला का अभाव मिल सकता है किन्तु धर्म की प्रतिष्ठा के प्रयास का अभाव नही है। इसके अतिरिक्त 'पुष्परञ्जनचरितम्' 'जीवनानन्दम्' आदि नाटकों में भी विभिन्न भक्ति सिद्धान्तों को उभारा गया है। जीवनान्दम् में शिवभक्ति का प्रतिपादन किया गया है तो पुरञ्जनचरितम् में विष्णुभक्ति का। धर्म के इतिहास में विभिन्न भक्ति मार्ग ईश्वरोपासना के विभिन्न मार्ग हैं जिनसे होकर भक्त भगवान की शरण में जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रतीक नाटककारों ने न केवल साहित्यिक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व किया है वरन् अपने समय के धार्मिक गतिविधियों का भी प्रतिनिधित्व करते दीखते हैं। वे अपनी प्रज्ञाशक्ति द्वारा धार्मिक उत्थान को नियोजित करने में सक्षम दीखते हैं। यहाँ तक कि वे कला के प्रति ईमानदारी नहीं बरत पाते किन्तु अपनी धार्मिक निष्ठा के प्रति बड़े ईमानदार लगते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से इन नाटकों पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि अब तक की कही गई सारी बाते गौण हैं और यह नाटक का प्रधान केन्द्र बिन्दु है। वस्तुतः इन नाटकों में अगर किसी वर्ण्यविषय की प्रधानता है तो वह है दार्शनिक विवेचन। दार्शनिक विवेचन कहने का मतलब यह नहीं है कि इन नाटकों में दार्शनिक दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति का विश्लेषण किया गया।

इसका मतलब सिर्फ यही है कि इन नाटकों में भारतीय संस्कृति के निर्माणात्मक तत्व अभिव्यञ्जित है। संस्कृत के वे मूलभूत तत्व जिनसे किसी संस्कृति का निर्माण होता है प्राकृत प्रभावों और मानव की सहजात प्रवृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की आस्था, उसका विश्वास, आशा-निराशा, उत्थान-पतन इन सबके समवेत संघटन से ही किसी जातीय सांस्कृतिक इतिहास का प्रतिफलन होता है।

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है। जब पहले-पहल इस धरती पर मनुष्य आया तो उसका सम्पर्क सबसे पहले अपने चारों तरफ के वातावरण से हुआ। इस वातावरण में अनेकानेक न जाने कितनी तरह की विविधतायें विद्यमान थीं एक तरफ उसने आकाश में अग्नि सदृश सूर्य को देखा, शीतल मनोहारी चन्द्रमा को देखा, अपनी लघुता में खिल-खिलाते तारों को देखा तो दूसरी ओर उसने वन प्रदेशों की हरियाली को देखा, निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करने वाले जानवरों को देखा, रङ्ग-विरङ्गे पुष्प देखे और जी भरकर देखी स्फटिक शिलायें। निश्चित था कि इन विविधताओं के प्रति वह अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त करता, उसने यही किया भी। और यही प्रतिक्रियाओं का ढंग मानव जीवन का इतिहास बन गया। वस्तुतः मनुष्य प्रारम्भ से आज तक इन प्राकृतिक विविधताओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया ही व्यक्त करता है। हाँ प्रतिक्रियायें व्यक्त करने के प्रकार में भिन्नता होती है और यही भिन्नता मनुष्य के सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तरों का परिचय देती है। प्रारम्भ में मनुष्य कुछ

और ही प्रतिक्रिया व्यक्त करता था और आज दूसरे ही प्रकार से व्यक्त करता है।

प्रारम्भ में मनुष्य ने केवल प्रकृति का रमणीय स्वरूप ही नहीं देखा, उसने प्रकृति के भयञ्कर रूप के भी दर्शन किये। उसने सामुद्रिक तूफानों को देखा, जंगलों की धधकती हुई दावाग्नि को देखा, भीषण जलप्रपातों को देखा, अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कष्टों को देखा और भयञ्कर रोग-व्याधियों को देखा। एक ओर जहाँ उसने प्राकृतिक रमणीयता से अपनी भाव-विह्वलता का सम्बन्ध जोड़ा तो दूसरी ओर प्रकृति की प्रचण्डता से भय का भी अनुभव किया। इसीलिये उसने समस्त प्राकृतिक प्रचण्डताओं को देवी देवताओं के रूप में स्थापित कर उनको खुश करने का प्रयास किया। इन स्थापित देवी-देवताओं की प्रार्थनायें और आराधनायें होने लगी। समस्त वैदिक साहित्य आज अपने जिस रूप में उपलब्ध है उसे एक वृहद् स्तुति ग्रन्थ की ही संज्ञा प्रदान की जाती है। कहीं उसमें वर्षा के देव इन्द्र की स्तुति है, कहीं देव अग्नि की स्तुति, कही ताप के देव सूर्य की स्तुति है तो कही प्रभात की देवी ऊषा की।

वस्तुतः साहित्य मानव जीवन की सांस्कृतिक विरासत होता है। वह जातियों के उत्थान-पतन की यथार्थ कथा कहता है। इस स्थापना को साथ रखकर प्रायः सभी प्रतीक नाटकों को अगर देखा जाय तो उनमें तत्कालिक सांस्कृतिक चेतना ही सर्वाधिक रूप में वर्णित मिलेगी। चाहे वह 'प्रबोधचन्द्रोदय' हो या 'मोहराजपराजय', 'धर्मविजय' हो या 'यतिराजविजय', 'जीवानन्दम्' हो या

'सङ्कल्पसूर्योदय' सभी में दार्शनिक तत्व चिन्तन की ही प्रधानता है। यह दार्शनिक चिन्तन संस्कृति का ही अङ्ग है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है तो सङ्कल्पसूर्योदय में विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है। 'पुरञ्जनचरितम्' और 'जीवानन्दम्' में शैवदर्शन वर्णित है।

तात्पर्य यह है कि इन सभी नाटकों में उस समय के बौद्धिक एवं दार्शनिक चिन्तन का निष्कर्ष भरा हुआ है। इसलिये दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इन सब नाटककारों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार भारतीय संस्कृति प्रचारित और प्रसारित करने का कार्य सम्पादित किया है। तत्कालिक जनमानस में लोगों ने सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने का यह जो प्रयास किया है निश्चय ही वह अभूतपूर्व महत्व का है। दार्शनिक अवबोध की क्षमता सबमें होती है किन्तु दर्शनशास्त्र की विचारात्मक जटिलता और तार्किक नीरसता के कारण दार्शनिक अभिरूचि सर्वसाधारण को नही रह जाती। इन नाटकों को इस बात का असाधारण श्रेय है कि उन दुरूह दार्शनिक तत्वों को ये सर्वजन सुलभ बनाते हैं। तात्विक चिन्तन रूपी कटु किन्तु गुणकारी औषधि को मधु या दुग्धरूपी ये नाटक सर्वथा ग्राह्य बना देते हैं।

इस पृष्ठभूमि में वेदान्तदेशिक द्वारा लिखित 'सङ्कल्पसूर्योदय' नाटक एक प्रमुख प्रतीक नाटक है। इसमें कवि ने अपनी वेदान्त विहारिणी बुद्धि से नाटक पद्धति को परिष्कृत करके विद्वानों का मत स्थापित किया है।[4] इसमें शरीरधारी सदसत्प्रकारक गुण अपने अधिदेवताओं के साथ पात्र रूप में उपस्थित हुये हैं।

---

4 श्रुतिकिरीट विहारजुषाधिया सुरभितामिह नाटक पद्धतिम्।
मुहुरवेक्ष्य विवेकमुपहनयन् मतमपश्चिमयामि विपश्चिताम्।। सं0सू0 1/7

'सङ्कल्पसूर्योदय' में विवेक, सुमति, व्यवसाय इत्यादि तथा मोह, दुर्मति, लोभ आदि पात्र के रूप में है। इसके सात्विक और तामसिक दो पक्ष हैं। इस नाटक का नायक विवेक है। पुरुष को सांसारिक बन्धनों से मुक्ति दिलाना इसका मुख्य प्रयोजन है।

प्रबोधचन्द्रोदय की दार्शनिकता एवं महत्त्व :

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के मङ्गलाचरण[5] से ही नाटक की दार्शनिकता की स्पष्ट झलक मिलने लगती है। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि नाटककार 'अद्वैतवेदान्त' सिद्धान्त के मतावलम्बी हैं। उनके अनुसार यह जगत् अज्ञान के कारण ही भासित होता है जैसे कि दोपहर की प्रखर रविरश्मियों में जलराशि की प्रतीति होती है और जिस तरह माला में प्रतीत होने वाला सर्प का फण माला का ज्ञान होने पर स्वतः विलुप्त हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने पर यह सम्पूर्ण विश्व तिरोहित हो जाता है अर्थात् सत्य ज्ञान होने पर द्वैत की प्रतीति नहीं होती। यहां पर आचार्य गौडपाद की पङ्क्ति 'ज्ञातेद्वैतं न विद्यते'[6] की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

चरमतत्व नितान्त ही निर्मल, स्वयं प्रकाश, स्वात्मानुभूतिरूप, आनन्दस्वरूप तेज ही है और अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार संक्षेप में बताये गये 'ब्रह्म

---

5 मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पयः पूरो यदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनों जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।
यत्तत्वं विदुषां निमीलति पुनः स्त्रग्भोगि भोगोपमं
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वत्मावबोधं महः।। - प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 1, श्लोक-1

6 माण्डूक्यकारिका

सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' के अनुसार एकमात्र ब्रह्म की सत्ता, संसार का मिथ्यात्व और ब्रह्म का संसार और जीवादि रूप में प्रतीत होना ही है।

जैसा इसके नाम और लक्ष्य से प्रबोध चन्द्र का उदय होना स्पष्ट है, वह इसके वेदान्त तत्त्वों का प्रतिपादन ही लक्षित करता है। इस प्रबोधरूपी चन्द्र के उदय होने की स्थिति अथवा प्रबोधोत्पत्ति विवेक के द्वारा उपनिषद्देवी से होती है।[7] इस वाक्य से उपनिषद् ही इस ग्रन्थ का दार्शनिक आधार सिद्ध होता है। इतने मात्र से 'उपनिषद् रूपी प्रमाण' वाले वेदान्तदर्शन की प्रतिपाद्यता स्फुट हो जाती है और त्रैलोक्योन्मीलन के मूल में अज्ञान तथा तत्वज्ञान में उसके मालासर्पफणवत्निमिलन की प्रतिपादन प्रणाली को देखते ही लगता है कि यह वेदान्त भी अद्वैत वेदान्त ही है जिसके मूल व्याख्याता एवं द्रष्टा के रूप में आचार्य गौडपाद एवं शङ्कर आदि पूजित हैं। नाटककार द्वारा इस 'अद्वैतवेदान्त' के स्वरूप का निर्धारण देखा जा सकता है।

नाटककार अद्वैतवेदान्त के **तत्त्व विचार** पर सर्वप्रथम अपना मत व्यक्त करते हैं कि यह एक अन्तिम तत्त्व है, वह स्वात्मावबोध रूप एवं तेजोमात्र है, चिदानन्दमय एवं निरञ्जन है।[8] सदा एकरस अज एवं अविकारी है, निष्कल है, निर्मल और अनुदितानस्तप्रकाश है-

शान्तं ज्योति: कथमनुदितानस्तनित्यप्रकाशं

---

7 .... सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्रात्रा समं जनयितव्या।
प्रबोधचन्द्रोदय अङ्क 1, पृ0 26

8 ^ ^ ^
^ ^ ^
चिरं चिदानन्दमयो निरञ्जनो
जगत्प्रभुर्दीनदशामनीयत।। प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 1, 24

विश्वोत्पत्तौ व्रजति विकृतिं निष्कलं निर्मलं च।

शश्वन्नीलोत्पलदलरूचामम्बुवाहावलीनां

प्रादुर्भावे भवति नभसः कीदृसो वा विकारः।[9]

वह परमतत्त्व ही आत्मतत्त्व है। इस तत्त्व के सम्यक् ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है। यही ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। जब यह भासमान संसार ईक्षण से माया के द्वारा सृष्ट जैसा होने लगता है।

अयः स्वभावादचलं बलाच्चल-

त्यचेतनं चुम्बकसंनिधाविव।

तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता

जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः।।[10]

इसी महेश्वर की माया से मन की उत्पत्ति और उसी से यह सारा त्रैलोक्य उत्पन्न होता है। यह माया अनादि है इसकी यह सारी सृष्टि सच्ची नहीं है केवल स्वप्नवत् है।

जातोऽहं जनको ममैष जननी क्षेत्रं कुलत्रं कुलं

पुत्रा मित्रमरातयो वसु बलं विद्याः सुहृद्बान्धवाः।

चित्तस्पन्दितकल्पनामनुभवन्विद्वानविद्यामयीं

निद्रामेत्य विघूर्णितो बहुविधान् स्वप्नानिमान्पश्यति।।[11]

---

9 प्रबोधचन्द्रोदय षष्ठ अङ्क श्लोक 23 पृ0 230

10 प्रबोधचन्द्रोदय षष्ठ अङ्क श्लोक 16

11 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 1, श्लोक 29

इसी माया के संघ से यह तत्त्व 'पुमान' या जीव कहलाने लगता है और माया के ही प्रभाव से अपने आपको उत्पन्न और सांसारिक पिता, पुत्र, मित्र, आदि स्वरूपों में बंधा हुआ समझता है जबकि वह न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी किसी प्रकार बंधा हुआ है तथा न ही ब्रह्मतत्व से किसी तरह भिन्न ही है-

एकोऽपि बहुधा तेषु विच्छिद्येव निवेशितः।

स्वचेष्टिमथो तस्मिन्विदधाति मणाविव।।[12]

अनादि माया के कारण ही उसकी ब्रह्म से भिन्नता प्रतीत होती है जीव ब्रह्म से प्रतिबिम्ब की भांति अलग है ही नहीं। 'यह उसका अंश है' यह भी नहीं कहा जा सकता। प्रथम अङ्क में सूत्रधार द्वारा चेदिपति की स्तुति परम्परा के समय कुछ पुरुषों को 'भगवन्नारायणांशसमुद्भूत'[13] कहने पर जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंशांशि-भाव का है, यह भी नहीं समझ लेना चाहिये। इस प्रकार के सम्बन्ध को अद्वैत वेदान्त में स्वीकार नहीं किया गया है। नटी को समझाने के लिये आरम्भ में कहे गये शब्द को नाटककार का मत नहीं समझना चाहिये क्योंकि षष्ठ अङ्क में पुरूष, विवेक उपनिषद् के संलाप के बीच 'तत्त्वविचार' का प्रतिपादन करते हुये प्रतिबम्ब के माध्यम से दोनों को एक ही तत्व विचार कहा गया है।-

असौ त्वदन्यो न सनातनः पुमान्

भवान्न देवात्पुरुषोत्तमात्परः।

---

12 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 1, श्लोक 28

13 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 1, पृ0 11

स एष भिन्नस्त्वदनादिमायया

द्विधेव बिम्बं सलिले विवस्वतः।।[14]

प्रबोधोदय होने पर पुरुष स्वयं अनुभव करता हुआ कहता है कि 'विश्वात्मा स्फुरति विष्णु रहं स एषः।'[15] विशिष्टाद्वैतवादी जो अंशांशिभाव मानते हैं, जीव ही विष्णु है यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते। अतः श्रीकृष्ण मिश्र ने अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है, यह स्पष्ट है।

मन और संसार की आत्मतत्त्व के माया सम्पर्क से जो उत्पत्ति कही गयी है चाहे वह तुच्छ हो, मिथ्या हो जो कि सिद्ध है लेकिन उस तत्त्व का माया से सम्पर्क होने पर उस तत्त्व की असङ्गता कहां रही? नाटककार सजगता से इस शङ्का का समाधान करते हैं। उन्होंने अपने नाट्यग्रन्थ के पहले अङ्क के उन्नीसवें श्लोक का समाधान करते हुये कहा है 'पुंसः सङ् समुज्झितस्यं गृहिणी मायेति तेनाप्यसौ'। इस तरह 'प्रबोधचन्द्रोदय' ही मोक्ष साधन रूप में स्वीकार हुआ है। उपासना पद्धति का विनियोग प्रबोधचन्द्रोदय एवं विद्या को उत्पन्न कराने मात्र में हैं। उपनिषद् में विवेक से दोनों की उत्पत्ति हो सकती है। विष्णु भक्ति से आदिष्ट निदिध्यासन यही स्थिति उत्पन्न कराने में सहायक सिद्ध होता है।[16] विद्या मन के हवाले होती है और पूरे परिवार के

---

14 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 6, श्लोक 25

15 मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रा
मुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषार रश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन
विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः।। -प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क 6, श्लोक 30

16 प्रबोधचन्द्रोदय अङ्क 6, पृ0 236

साथ मोह को ग्रस्त करते हुये अन्तनिर्हित हो जाती है और पुरुष को 'प्रबोधोदय' की प्राप्ति होती है।[17] यह आत्मतत्त्व का निर्विकल्पक साक्षात्कार है। बस इतने से ही पुरुष को विघटित तिमिर पटल प्रभात का अनुभव होने लगा और वह जीवन्मुक्त हो गया। 'स्वायंभुव मुनि' हो गया।[18] वह नीरजस्क सदानन्द पद में निवेशित हो गया। विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्ती दर्शन जीवन्मुक्ति नहीं स्वीकार करते। शाङ्कर वेदान्त में इस तरह की स्पृहणीय स्थिति को स्वीकार किया गया है। यहाँ पर पुरुष विवेक से ज्ञान का उपाय पूंछते हुये अनन्त शान्त ज्योतिपद को प्राप्त हो जाता है। 'शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दः समुद्योतते।[19]

आचार्य श्रीकृष्ण मिश्र ने अद्वैत मत के अनुसार तत्त्व व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही **साधना मार्ग** की भी विवेचना भक्ति के द्वारा वर्णित की है। उनके अनुसार तत्त्वज्ञान के लिये भक्तिमार्ग का ही आश्रय लेना चाहिये। अपने मत की पुष्टि करते हुये उन्होंने विष्णुभक्ति का अवलम्बन लिया है। मोक्ष की साधना में विष्णुभक्ति का प्रबल संयोग है। यह विष्णु भक्ति श्रद्धा और धर्म की रक्षा करती है-

---

17 उद्यामद्युतिदामभिस्तडिदिव प्रद्योतयन्ती दिशः
प्रत्यग्रस्फुटदुत्कटास्थि मनसो निर्भिद्य वक्षःस्थलम्।
कन्येयं सहसा समं परिकरैर्मोहं ग्रसन्ती भज-
त्यन्तर्धानमुपैति चैकपुरुषं श्रीमान्प्रबोधोदयः। प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 6, श्लोक 28

18 सङ्गं न केनचिदुपेत्यकिमप्यपृच्छन्
गच्छन्नतर्कितफलं विदिशं दिशं वा।
शान्तो व्यपेतभयशोककषायमोहः
स्वायंभुवो मुनिरिहं भवितास्मि सद्यः। प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 6, श्लोक 31

19 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 6, श्लोक 27

मैत्री–श्रुतं मया मुदितायाः सकाशाद्यथा महाभैरवी सङ्ग्नसन्संभ्रमाद् भगवत्या विष्णुभक्त्या परित्राता प्रियसखी श्रद्धेति। तदुत्कण्ठितेन हृदयेन प्रियसखी श्रद्धा कदा, प्रेक्षिष्ये।[20]

साधनाक्रम के **प्रथम स्तर** को अभिव्यक्त करते हुये नाटककार यह दिखाता है कि मानव के उन्नति में बाधित मोहादि दुर्गुणों को पराजित करने के लिये भक्ति से अनुप्राणित श्रद्धा और विवेक तथा शान्ति, मुदिता, मैत्री एवं उपेक्षा आदि वृत्तियां कार्यरत होती हैं। **दूसरे स्तर** पर विष्णुभक्ति, वैयासिकी सरस्वती के अमृतोपम उपदेशों द्वारा अनिश्चित एवं भ्रान्ति की सम्भावना वाले मन को कल्याण मार्ग पर स्थिर रखने की व्यवस्था करती है। सरस्वती– प्रेषितास्मि भगवत्या विष्णुभक्त्या।

यथा 'सखि सरस्वती, गच्छापत्यव्यसनखिन्नस्य मनसः प्रबोधनाय। यथा चतस्य वैराग्योत्पत्तिर्भवति तथा यतस्वे' ति।[21]

इससे मन निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। साधनाक्रम के **तीसरे स्तर** पर निवृत्ति प्राप्त मन ब्रह्म पुरुष तत्त्व ज्ञान के योग्य बनता है। विष्णुभक्ति उपनिषद् को पुरुष के समीप लाकर विवेक के साथ 'तत्त्वमसि' का उपदेश देने की अनुमति देती है।[22] उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् वह मनन करना प्रारम्भ

---

20 प्रबोधचन्द्रोदय, पृ0 131

21 प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 4, पृ0 183–184

22 विवेकः– अयमुच्यते–
एषोऽस्मीति विविच्य नेतिपदताश्चित्तेन सार्ध कृते
तत्त्वानां विलये चिदात्मनि परिज्ञाते त्वमर्थे पुनः
श्रुत्वा तत्त्वमसीति बाधितभवध्वान्तं तदात्मप्रभं
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरूदितानन्दः समुद्योतते।।

करता है। साधनाक्रम के **चतुर्थ एवं अंतिम स्तर** पर निदिध्यासन की कार्यवाही होती है। विष्णुभक्ति उसे भी आदेश देकर पुरुष में विद्या के द्वारा अज्ञान के अन्धकार का नाश और प्रबोध के उदय से अलौकिक ज्योतिरूप ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता है। साधक को आत्मसाक्षात्कार होता है और वह कृतकृत्य होता है साथ ही वह विष्णुभक्ति के प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन करता है।[23]

इस तरह नाटकीय ढंग से तत्त्वज्ञान और विष्णुभक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया है। विष्णुभक्ति के अतिरिक्त इस निःश्रेयस साधना में उच्चकोटि के सहयोग देने वाले व्यक्तितत्व (अमूर्त) वैयासिकी सरस्वती एवं उपनिषद् हैं। इस तरह ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही प्रबोधोदय है, यही साध्य है और मानव की आध्यात्मिक सिद्धि भी है।

अन्य दार्शनिक मतों से भेद :

आचार्य श्रीकृष्ण मिश्र अवैदिक दार्शनिक सिद्धान्तों के घोर विरोधी थे। इसी कारण से उन्होंने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में वेद विरोधी चार्वाक्, जैन, बौद्ध और सोमसिद्धान्त को महामोह का किंकर कहा है।[24] पर दिखाया है कि किस प्रकार वे विवेक का विरोध करने में प्रयासरत रहते हैं। इसीलिये महामोह के

प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 6, पृ0 235, श्लोक 27

23 देव्या विष्णुभक्तेः प्रसादात्किं नाम दुष्करम्।
(इति पादयोः पतति)
प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 6, पृ0 240

24 भो, इदं मया गणितेन ज्ञातम्। यत्सर्वेऽपि वयं महामोहस्य किंकरा इति।
प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 3, पृ0 127

विनष्ट एवं पराजित हो जाने पर उन्हें देश देशान्तर में निर्वासित करने का वर्णन किया गया है।[25]

यहां यथार्थ रूप से तर्क विद्या एवं मीमांसादि पक्षों को अङ्कित करने का प्रयास किया गया है। ये मतवाद भी पहले तो सम्मिलित रूप से महामोह को पराजित करने में एकमत रहते हैं फिर उपनिषद् की यात्रा के प्रसङ्ग में इनकी भी आवश्यक एवं वांछनीय भर्त्सना करके निराकृति करा दी जाती है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की प्राण प्रतिष्ठा कराई गई है।

प्रबोधचन्द्रोदय का महत्त्व :

संस्कृत साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक नाटक अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। यह प्रबोधचन्द्रोदय की विशिष्टता ही है कि उसकी कोटि का पूर्णतः प्रतीक नाटक इसके पूर्व समुपलब्ध नहीं होता। श्रीकृष्ण मिश्र ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य इस नाटक की रचना की। उन्होंने अपने अध्ययन के बल पर चिन्तन प्रवाह से पूर्ववर्ती साहित्य को आत्मसात कर लिया। इससे पूर्व दसवीं शताब्दी में 'उपमितिभव प्रपञ्चकथा' नामक अमूर्त शैली के ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। डा० जयदेव

---

25 तस्मिन्नेवातिमहति महादारूणे सङ्ग्रामे परापरपक्षविरोधितया पाषण्डागमैरग्रेसरीकृतं लोकायतं तन्त्रमन्योन्यसैन्यविमर्दनैर्नष्टम्। अन्ये तु पाषण्डागमा मूलनिर्मूलतया सदागमार्णवप्रवाहेण पर्यस्ताः। सौगतास्तावत्सिन्धुगान्धारपारसीकमागधान्ध्रहूणवङ्गकलिङ्गमेदीन्म्लेच्छ-प्रायान्प्रविष्टाः।
पाषण्ड-दिगम्बरकापालिकादयस्तु पामरबहुलेषु पाञ्चालमालवाभीरावर्तसागरानूपेषु सागरोपान्ते निगूढं सञ्चरन्ति। न्यायाद्यनुगतमीमांसयावगाढ़ प्रहारजर्जरीकृता नास्तिकतर्कास्तेषामेवागमा-नामनुपथंप्रयताः।
प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क 5, पृ० 177-78

ने प्रबोधचन्द्रोदय को इसका अनुकरण माना है परन्तु ऐसा मानना प्रबोधचन्द्रोदय जैसे मौलिक नाटक के प्रति अन्याय करना है। ऐसा माना जा सकता है कि यह नाटककार की पूर्णतः मौलिक प्रतिभा की देन है क्योंकि इस प्रतीक नाटक में छन्द योजना सरसता, रोचकता, इत्यादि का प्रतिपादन बहुत ही सरल एवं सहज ढंग से किया गया है। इससे पूर्व भी इस शैली का कोई भी प्रतीक नाटक पूर्णतः समुपलब्ध नहीं होता। प्रबोधचन्द्रोदय के अध्ययन से पता चलता है कि पूर्व परम्परा का अनुकरण करने के साथ ही श्रीकृष्ण मिश्र वेद, उपनिषद् और षड्दर्शन आदि के प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। यही वजह रही कि वह अपनी विद्वता के बल पर कीर्तिवर्मा के राज्यसभा में गुरूपद से आदृत थे। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का कई भाषाओं में अनुवाद किया गया। यह भी इस नाटक की महत्ता प्रदर्शित करता है।

प्रबोधचद्रोदय का सामाजिक महत्त्व :

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के महत्त्व की बात तब तक पूरी नहीं होती जब तक कि इस प्रतीक नाटक की सामाजिक उपादेयता पर विचार न कर लिया जाय। हम जानते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। मनुष्य के राग-द्वेष एवं उसके मनोजगत् का उद्घाटन साहित्य में होता है। इसलिये साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के पथ प्रदर्शक के रूप में माना जाता है। अतः प्रबोधचन्द्रोदय से भी साहित्य की इसी अभिव्यक्ति की अपेक्षा की जानी चाहिये। यहाँ पर हमें यह दृष्टिकोण रखना पड़ेगा कि प्रबोधचन्द्रोदय मनुष्य के सामाजिक धरातल को किस सीमा तक प्रभावित या अप्रभावित करता है।

प्रबोधचन्द्रोदय की इस भूमिका में यह तो स्वीकार करना होगा कि इस नाटक ने अपने ढंग से समाज के लोगों में जीवन के चिन्तन पक्ष को अधिक प्रभावित किया है। जीवन की समरसता जगाना साधारण नाटकों का कार्य एवं इसके चिन्तन पक्ष को प्रभावित करना दार्शनिक प्रतीक नाटकों का कार्य है। यह दोनों कार्य अपने-अपने स्थान पर बराबर महत्त्व के हैं। समाज का रागद्वेष जितना बड़ा सत्य है, उतना ही बड़ा सत्य उसका चिन्तन मनन भी है। हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि इस प्रतीक नाटक ने अपने समय के समाज को अद्वैत दर्शन के क्षेत्र में बार-बार चिंतन करने पर मजबूर किया होगा।

प्रबोधचन्द्रोदय के सामाजिक महत्त्व का एक दूसरा पक्ष यह भी है, जो इसके उद्देश्य से सम्बन्धित है। श्रीकृष्ण मिश्र ने एक प्रबुद्ध दार्शनिक होते हुये भी सामान्य जनमानस का सम्बन्ध दर्शन से जोड़कर उसे तत्त्वचिन्तन की ओर अग्रसर किया।

प्रबोधचन्द्रोदय की यह देन सबसे महत्त्वपूर्ण है कि इसी तत्त्व चिन्तन के आधार पर समाज स्वतः गतिशीलता एवं जीवन्तता का अनुभव करता है।

प्रबोधचन्द्रोदय के उद्देश्य का एक पक्ष है- मोक्ष की प्राप्ति। प्रबोधचन्द्रोदय सहित लगभग सभी प्रतीक नाटकों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपवर्ग प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है। भारतीय दर्शन का अधिकतर भाग मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग का अनुसंधान करता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में चार श्रेय

वर्णित है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें सबसे अधिक महत्त्व मोक्ष को प्राप्त है अतः मोक्ष को ही मनुष्य का अन्तिम साध्य माना जाता है।

मोक्ष को काव्य या साहित्य में भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि काव्य के उद्देश्य के रूप में केवल धर्म, अर्थ एवं काम को ही महत्त्व मिला है किन्तु मोक्ष हमेशा उपेक्षित नहीं रहा है। और फिर प्रतीक नाटकों के साथ मोक्ष की सङ्गति इसलिये भी बैठ जाती है क्योंकि इनका विषय तत्त्वचिन्तन है। इसी तरह प्रबोधचन्द्रोदय का भी विषय तत्त्वचिन्तन है एवं इसका अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्ति है। उदाहरणार्थ इस नाटक में विवेक को प्रबोधोत्पत्ति के लिये बार-बार प्रवृत्त किया गया है। इस प्रबोध की उत्पत्ति के बाद ही अज्ञानान्धकार दूर हुआ और पुरुष को विष्णु भक्ति के प्रसाद से मुक्ति मिली। प्रबोधचन्द्रोदय के अतिरिक्त जिन प्रतीक नाटकों में किसी भक्ति की प्रतिष्ठा है उनमें भी अप्रत्यक्ष रूप से मोक्ष की बात मानी गयी है। इन सभी प्रतीक नाटकों में नायक अन्तिम अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है तथा जो अपनी चित्तवृत्तियों से मुक्त होता है एवं कुप्रवृत्तियों का परित्याग कर देता है। इस प्रकार वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है जो मोक्ष की ओर अग्रसर होती है। जहाँ अन्य साधारण नाटकों में अर्थ, धर्म, काम को लक्ष्य सिद्धि के रूप में स्वीकृति मिलती है वहां प्रबोधचन्द्रोदय में मोक्ष को उद्देश्य के रूप में स्वीकार करना एक महत्वपूर्ण कदम है।

प्रबोधचन्द्रोदय का राजनीतिक महत्त्व :

प्रबोधचन्द्रोदय में काव्य एवं दर्शन का आधिपत्य होते हुये भी इनमें अपनी प्रभान्विति में तत्कालिक जनमानस की राजनैतिक चेतना स्पष्टता के साथ देखी जा सकती है। राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध, राजा एवं मन्त्री का सम्बन्ध एवं राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था इन सभी की अभिव्यक्ति इस नाटक में हुई है। अधिकांश नाटककार किसी न किसी राजदरबार में अपना जीवन यापन करते रहे हैं। राजदरबारी कवि होने के कारण उन्हें राज्य की अच्छी बुरी बातों का ज्ञान अवश्य रहा होगा। वे प्रशासनिक कार्यो में अप्रत्यक्ष रूप से दखल देते थे। यही कारण है कि दर्शन के विषय पर भी लिखने के लिये इन सभी दरबारी राज्याश्रित नाटककारों ने नाट्य विधा का आश्रय ग्रहण किया जिससे कि स्पष्टता के साथ वे राजाओं के जीवन चरित्र का वर्णन कर सकें। यही कारण है कि प्रबोधचन्द्रोदय सहित सभी प्रतीक नाटकों में इतिवृत्त के चौखटे के रूप में राजाओं का वर्णन है। उनके व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष का उल्लेख है, उनके अत्याचारों का उल्लेख है। उनके धार्मिक सहिष्णुता एवं असहिष्णुता का उल्लेख है, उनकी घरेलू अव्यवस्थाओं का वर्णन है, एवं उनके संघर्षो, विजय, पराज़यों का वर्णन है।

प्रबोधचन्द्रोदय ने तत्कालिक राजनीति को स्वस्थ एवं संवर्द्धनशील बनाने में अत्यधिक योगदान किया। इस नाटक को पढ़कर या देखकर राजाओं में नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो सकती है। राज्य की अव्यवस्था को सुधारने का एक यह भी रास्ता है कि प्रत्यक्ष रूप से न कहकर उसे कथा के रूप में व्यक्त कर दिया जाय। कथा के आवरण में कही गयी बात अत्यधिक

शक्तिशाली तथा स्थाई होती है। इस दृष्टि से इस नाटक का महत्त्व अधिक है।

यह एक प्राचीन तथ्य है कि प्राचीन काल में राजाओं में बहुधा शक्ति एवं सम्प्रभुता के लिये संघर्ष होते रहते थे। प्रबोधचन्द्रोदय में इसी संघर्ष को आधार बनाया गया है प्रबोधचन्द्रोदय में अप्रत्यक्ष रूप से राजा कीर्तिवर्मा को पुरुष तथा चेदिपति कर्ण को महामोह के रूप में बताकर उनके संघर्ष की पूरी कथा इस नाटक में वर्णित है। श्रीकृष्ण मिश्र को प्रकृत नाटक की रचना के लिये गोपाल प्रोत्साहित किया करता था जो राजा कीर्तिवर्मा का मन्त्री था और उसे इस नाटक में विवेक के रूप में चित्रित किया गया है। विवेक रूपी गोपाल द्वारा महामोह रूपी कर्ण को हटाकर पुरुष रूपी कीर्तिवर्मा का राज्याभिषेक करना ही इस नाटक का कथ्य है। ऐसा माना जाता है कि कीर्तिवर्मा के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में ही इस नाटक का मञ्चन हुआ था। अतः इस पूरे घटनाक्रम से यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण मिश्र कीर्तिवर्मा के राज्याश्रित कवि थे और प्रशंसा में ही इस नाटक का मूल छिपा हुआ है।

प्रबोधचन्द्रोदय का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व :

साहित्य मानव जीवन की सांस्कृतिक विरासत होता है। जातियों के बौद्धिक उत्थान पतन की यथार्थ कथा भी साहित्य ही उल्लिखित करता है। इस तरह प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में तत्कालिक सांस्कृतिक चेतना सर्वाधिक रूप में वर्णित है। प्रबोधचन्द्रोदय में दार्शनिक चिन्तन तत्कालिक संस्कृति का अङ्ग है। इसमें दार्शनिक तत्त्व चिंतन की ही प्रधानता है। साथ ही तत्कालिक जनमानस

की धार्मिक प्रवृत्तियों को भी नाटक में प्रदर्शित किया गया है। धर्म ही वह केन्द्रीय सूत्र है जो हमारे समाज में सन्तुलन पैदा करता है। धर्म के अभाव से समाज में विसङ्गतियां उभरती हैं और मनुष्य का नैतिक ह्रास होता है। धर्म के प्रति श्रद्धा न होने से आज सामाजिक अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं। भाई-भाई में, पति-पत्नी में एवं पिता-पुत्र में द्वन्द्व की स्थिति दिखाई पड़ती है।

साहित्यकार अपनी प्रज्ञा द्वारा इन तथ्यों को ग्रहण कर नये सिरे से लोगों में धार्मिकता के प्रति रूझान पैदा करता है। वह धर्म की युग के अनुरूप व्याख्या करता है। उनमें संशोधन एवं परिवर्द्धन करता है। इस प्रकार साहित्यकार या कवि की एक धार्मिक भूमिका निश्चित होती है।

प्रबोधचन्द्रोदय में दार्शनिक दृष्टिकोण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इस नाटक में दार्शनिक विवेचना की प्रधानता है। यहाँ पर दार्शनिक विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि इन नाटकों में दार्शनिक दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति का विश्लेषण किया गया। इसका तात्पर्य केवल यही है कि प्रबोधचन्द्रोदय में भारतीय संस्कृति के निर्माणात्मक तत्त्वों का वर्णन किया गया है। संस्कृति के मूलभूत तत्त्व जिनसे किसी संस्कृति का निर्माण होता है, प्राकृतिक प्रभावों एवं मानव की सहज प्रवृत्तियों से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की आस्था, उसका विश्वास, उत्थान-पतन एवं आशा-निराशा इत्यादि संघटन से ही किसी जातीय सांस्कृतिक इतिहास का प्रतिफलन होता है।

मानव स्वभावतः जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है। जब वह सर्वप्रथम इस धरती पर आया तो उसका सम्पर्क अपने चारो तरफ के वातावरण से हुआ।

इस वातावरण में कई तरह की वस्तुयें एवं उनमें विभिन्नतायें विद्यमान थीं। एक तरफ उसने आकाश में अग्नि के समान सूर्य को देखा तो दूसरी ओर शीतल मनोहारी चन्द्रमा को देखा। इसके अतिरिक्त अपनी लघुता में खिलखिलाते तारों को देखा तो दूसरी ओर वनों की हरियाली को देखा, निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करने वाले जानवरों को देखा, रङ्ग-विरङ्गे फूल देखे, इत्यादि। इन विविधताओं को देखकर इनके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करना स्वाभाविक है और यही प्रतिक्रियाओं का ढंग मानव जीवन का इतिहास बन गया। वस्तुतः मनुष्य प्रारम्भ से लेकर आज तक इन प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिक्रियायें ही व्यक्त करता रहता है। इन्हीं प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने की विविधता मनुष्य के बौद्धिक स्तर का परिचय देती है। पहले मनुष्य दूसरी तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त करता था और आज भिन्न तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

प्राचीनकाल में मनुष्य ने प्रकृति का केवल रमणीय स्वरूप ही नहीं देखा बल्कि उसका विकराल रूप भी देखा। उसने सामुद्रिक तूफानों को देखा, दावाग्नि, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि के कष्टों को देखा। उसने प्रकृति की रमणीयता से भावविह्वलता और प्रकृति की प्रचण्डता से भय का अनुभव किया। अतः उसने समस्त प्राकृतिक प्रचण्डताओं को देवी-देवताओं के रूप में स्थापित करके उनको खुश करने का प्रयास किया। इन स्थापित देवी-देवताओं की प्रार्थनायें होने लगीं। सभी वैदिक साहित्य आज जिस रूप में समुपलब्ध हैं उन्हें एक वृहद् स्तुति ग्रन्थ कह सकते हैं। कहीं उसमें वर्षा के देव इन्द्र की स्तुति है तो कही अग्नि देव की स्तुति, तो कहीं सूर्यदेव की स्तुति।

प्रबोधचन्द्रोदय में तत्कालिक बौद्धिक एवं दार्शनिक चिन्तन का निष्कर्ष प्राप्त होता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस नाटक में श्रीकृष्ण मिश्र ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार भारतीय संस्कृति को प्रचारित एवं प्रसारित करने का कार्य सम्पादित किया है। प्रबोधचन्द्रोदय ने तत्कालिक जनमानस में सांस्कृतिक चेतना पैदा करने का जो प्रयास किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दार्शनिक अवबोध की क्षमता सभी में होती है लेकिन दर्शनशास्त्र की विचारात्मक जटिलता एवं तार्किक नीरसता के कारण दार्शनिक अभिरूचि जनसामान्य को छू नहीं पाती। प्रबोधचन्द्रोदय का यह असाधारण श्रेय है कि उन दार्शनिक तत्त्वों को यह सर्वसुलभ बनाता है। तात्त्विक चिन्तन रूपी कटु लेकिन गुणकारी औषधि को मधु या दुग्धरूपी यह नाटक सर्वथाग्राह्य बना देता है। इस प्रकार प्रबोध चन्द्रोदय का दार्शनिक, राजनीतिक व साहित्यिक महत्त्व जनसामान्य के लिये एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सङ्कल्पसूर्योदय का महत्त्व :

कोई भी कवि अपने आस-पास के सामाजिक वातावरण से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। इसी आधार पर कवि द्वारा रचित कृति को समाज का दर्पण कहते हैं। यद्यपि कवि किसी ऐतिहासिक इतिवृत्त के चित्रण में इतिहास आदि के आधार पर तत्कालिक समाज को चित्रित करने का प्रयत्न करता है किन्तु वह अपने समकालिक समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। वर्तमान समाज उसकी रचनाओं में झलकता है। यदि कहा जाय कि कवि अपने समय की आधारशिला पर वर्णित समाज का चित्र खींचने का प्रयत्न करता है तो

अनुचित न होगा। वेदान्तदेशिक की रचनाओं में भी तत्कालिक समाज का चित्रण प्रचुर मात्रा में सुलभ है। यादवाभ्युदय महाकाव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त के वर्णन के समय वेदान्तदेशिक को वर्तमान लोक समाज को माध्यम बनाना पड़ा, किन्तु सङ्कल्पसूर्योदय के सृष्टिकाल में कवि को स्पष्ट रूप से अपने समाज को चित्रित करने का अवसर मिला।

सङ्कल्पसूर्योदय में लोक चित्रण दो रूपों में मिलता है। प्रथम–कवि के परिसर की लोकस्थिति का चित्रण और द्वितीय है– भौगोलिक आधार पर विभिन्न समाजों की दशा का परिचय। इससे कवि की लोकप्रियता के साथ–साथ सूक्ष्मदर्शिता का भी पता चलता है।

सङ्कल्पसूर्योदय का सामाजिक महत्त्व :

प्राचीनकाल से भारतीय समाज में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। चार वर्णो और आश्रमों में विभक्त होकर लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए स्वयं परिपुष्ट होकर समाज को भी सुदृढ़ बनाये रखते थे। समष्टि में ही व्यष्टि का हित निहित था। एकता ही विभिन्नता की परिणति थी। कालान्तर में वर्णाश्रम व्यवस्था शिथिल हो गयी थी। स्ववर्णाश्रमानुकूल धर्म का पालन करने में लोगों की रूचि क्षीण हुई। वेदान्तदेशिक के समय में भी वर्णाश्रण व्यवस्था विच्छृङ्खलित हो गई। ब्राह्मण असम्बद्ध प्रलाप करते थे, अल्पज्ञानी थे, गुरूजनों की अवहेलना करते थे।

स्वर्ग, मोक्ष को नहीं मानते थे। केवल मूर्ख राजाओं की चाटुकारिता में ही अपने को कृतकृत्य समझने लगे थे–

अनियतबहुजल्पैरल्पबोधावलिप्तै–

रवमतगुरूवर्गैरत्रिवर्गापवर्गैः।

अभिनयविद्युताङ्गुलीनृत्तसारै–

श्लमिहजडभूभृत्पीठमर्दैरमीभिः।। संоसूо 5/14

ब्राह्मणों का चारित्रिक पतन हो गया था। छद्म रूप से वे पतित कर्म किया करते थे, किन्तु संसार के सामने अपना सुन्दर रूप बनाकर उपस्थित होते थे। उदाहरण के लिये रात्रि में वेश्यागमन करते थे और दिन में श्रोत्रिय, याज्ञिक, तापस आदि विविध वेषों में संसार को ठगते थे–

स्वतन्त्रवरवर्णिनीसुरतकेलिसौत्रामणी

रसार्चितमनोभवां रहसि निर्विशद्भिःक्षपाम्।

दिवा विविधभूमिका विहित कञ्चुकैर्वच्यते

वियातकितवैरिदं वितथदत्तवितञ्जगत्।।

वर्णाश्रम धर्म बाह्याचरण मात्र में संरक्षित थे। जातकर्म आदि संस्कार केवल उत्सव मनाने (नृत्य गीतादि) के लिये किये जाते थे। सन्ध्या विश्राम करने के लिये की जाती थी, शुद्धता अभिनयप्राय हो गयी थी–

संस्काराः परमुत्सवैकवपुषः सन्ध्या विनोदावधिः

सावित्री जनवाद जर्जरतनुः शौचं नटप्रायिकम्।

इत्थंमोहमहीपतेरनुमते विश्वं विपर्यस्यतः

कालस्यैष कलेरलेपकमत व्यक्तक्रमः प्रक्रमः।। सं0सू0 5/18

वेद पढ़ना जीविका का साधन हो गया था। गली-गली में शिष्य की परीक्षा किये बिना लोग तोते की तरह वेद रटते थे-

प्रतिवीथिकमाश्रयन्त एते

कुहनासूक्तिमयीं कुसीदवृत्तिम्।

अपरीक्षितशिष्यमद्य सर्वे

शुकवद ब्रह्माम पठन्ति शुद्ध वेदाः।। सं0सू0 5/20

श्रोत्रियों में ईर्ष्या की अधिकता देखी जाती थी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था नाम मात्र को अवशिष्ट थी। वेदान्तदेशिक ने वर्णाग्रगण्य ब्राह्मणों की दुर्दशा को ही चित्रित करके अन्य वर्णो की स्थिति का अनुमान लगाना स्वयं पाठकों पर छोड़ दिया है। ब्राह्मणों की दशा का नग्न चित्रण करने में वेदान्तदेशिक का उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी खिल्ली उड़ायी जाय अपितु कुलीन और लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मणों का अधःपतन देखकर उनका चित्त क्षुब्ध हो गया होगा। नाट्य के माध्यम से लोक के समक्ष उनकी पतितावस्था चित्रित कर उन्होंने ब्राह्मणों को सावधान करना अपना कर्त्तव्य समझा। लोककल्याण ही उनका उद्देश्य था। उन्होंने ब्राह्मणों के ध्यान में यह बात लाने का प्रयत्न किया कि वे यह न समझें कि उनकी त्रुटियों को कोई जानता नहीं है। वे समझ लें कि उनका पाखण्ड और थोथापन लोगों के सामने स्पष्ट हो गया है, अतः अपना सुधार करने और सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करें। ब्राह्मण अपने धर्म से विमुख हो रहे थे, फिर भी समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। उन्हें अन्य वर्णो से उच्च

समझा जाता था। उन्हें न तो शारीरिक दण्ड दिया जाता था और न पैर से स्पर्श किया जाता था। यथासमय ब्राह्मणों के चरण पूजे जाते थे। आचार्य का स्थान अत्यन्त उच्च समझा जाता था-

अध्यासीनतुरङ्गवक्त्रविलसज्जिह्वाग्रसिंहासना-

दाचार्यादिहदेवतां समधिकामन्यां न मन्यामहे।

यस्यासौ भजते कदचिदजहद्भूमा स्वयं भूमिकां

मग्नानां भविनां भवार्णव समुत्तताराय नारायणः।।   सं0सू0 2/63

हिन्दू सामाजिक संगठन की अन्य महत्त्वपूर्ण संस्था आश्रमों की है जो वर्ण के साथ सम्बन्धित है। आश्रम मनुष्य की प्रशिक्षण की समस्या से सम्बद्ध है जो संसार की सामाजिक विचारधारा के सम्पूर्ण इतिहास में अद्वितीय हैं। हिन्दू व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक प्रकार के प्रशिक्षण तथा आत्मानुशासन का है। इस प्रशिक्षण के दौरान उसे चार चरणों से होकर गुजरना पड़ता है ये प्रशिक्षण की चार अवस्थायें हैं। आश्रम शब्द की उत्पत्ति 'श्रम्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है परिश्रम या प्रयास करना। इस प्रकार वर्णाश्रम वह स्थान है जहां प्रयास किया जाय। मूलतः आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम स्थल का कार्य करते हैं जहां आगे की यात्रा के लिये तैयारी की जाती है। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति की यात्रा में आश्रमों को विश्राम स्थल बताया गया है।

आश्रम व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक नैतिक आधार पुरूषार्थ है जो आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति को समाज के साथ सम्बद्ध कर उसकी व्यवस्था तथा

सञ्चालन में सहायता करते हैं। एक ओर जहां मनुष्य आश्रमों के माध्यम से जीवन में पुरूषार्थ के उपयोग करने का मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त करता है तो दूसरी ओर व्यवहार में वह समाज के प्रति इनके अनुसार जीवन यापन करता हुआ अपने कर्त्तव्यों को पूरा करता है। प्रत्येक आश्रम जीवन की एक अवस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति एक निश्चित अवधि तक प्रशिक्षण प्राप्त करता है। महाभारत में वेदव्यास ने चारों आश्रमों को ब्रह्मलोक पहुंचने के मार्ग में चार सोपान निरूपित किया है।[26] भारतीय विचारकों ने चतुराश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के आदर्शों में समन्वय स्थापित किया है।

आश्रमों की उत्पत्ति के समय के विषय में मतभेद हैं। रिजडेविड्स जैसे कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आश्रमों का प्रचलन बुद्ध के बाद अथवा त्रिपिटकों की रचना के बाद हुआ होगा क्योंकि उनका उल्लेख नहीं मिलता है।[27] किन्तु यह मत असङ्गत लगता है क्योंकि उत्तरवैदिक कालिक ग्रन्थों में हम आश्रमों का यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण, तैतिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में इनका उल्लेख है। जाबालोपनिषद् में हम सर्वप्रथम चारों आश्रमों का उल्लेख प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रमों की रचना उपनिषद् काल में ही हो चुकी थी, किन्तु सूत्रकाल तक आते-आते यह व्यवस्था समाज में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गयी। स्मृतिकाल में विभिन्न आश्रमों के विधि-विधान निर्धारित किये गये। लगता है कि चारो आश्रमों का विधान भी

---

26 चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
   एतां आरूहय निःश्रेणीम् ब्रह्मलोके महीयते।। शान्तिपर्व 242.150

27 सं0सू0 पृ0 478

एक साथ नहीं हुआ होगा। प्रारम्भ में मात्र दो आश्रम थे ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ तत्पश्चात् वानप्रस्थ तथा अन्ततोगत्वा सन्यास आश्रम का विधान किया गया होगा।

वर्ण व्यवस्था की तरह आश्रम व्यवस्था भी वेदान्तदेशिक के समय तक समाप्त हो गयी थी। किसी भी आश्रम में विहित धर्म का पालन नहीं किया जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम बिल्कुल समाप्तप्राय था जिनके विवाह आदि नहीं हो पाते थे वे ही अगत्या भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे-

अपटुभणितिभावात् विभ्रतो मौनमुद्रा-

मनितशरणत्वादृतान्योन्यसंघाः।

अगतिविहित भिक्षावृत्तयः केचिदेते

चिरविधृततुरङ्गब्रह्मचर्या महान्तः।। सं0सू0 5/21

गृहस्थाश्रम में भी लोग विहित कर्मो का अनुष्ठान नहीं करते थे। गृहस्थ दम्पत्ति अग्निहोत्रादि का परित्याग करके सुरतसुख में निरन्तर आसक्त रहते थे-

तरुणाकृतयः कुचेषु कृष्णास्त

इमे दम्पत्तयः सहैव साध्यम।

इतरेतर दैवतं भजन्ते

मदनोपज्ञमजस्रमग्निहोत्रम्।। सं0सू0 5/19

वानप्रस्थ प्रदर्शनमात्र के लिये ग्रहण किया जाता था, इसे लोग अपनी जीविका का साधन बना लेते थे। तीर्थयात्रियों के मार्ग में आसन लगाकर लोग

ध्यान का अभिनय करके अर्थसङ्ग्रह किया करते थे। अन्य आश्रमों की भांति सन्यास आश्रम की स्थिति भी बड़ी शोचनीय थी। सन्यासी केवल कषाय वस्त्र और दण्ड धारण करने मात्र से ही पहचाने जाते थे। अन्यथा धन-सङ्ग्रह उनका भी उद्देश्य था। वे भिक्षा को शिष्यों के भरण-पोषण की दक्षिणा कहकर, वस्त्रादि को मठ द्वारा क्षेत्र सम्पादन बताकर, धन को ग्रन्थ क्रय का मूल्य कहकर निरन्तर सम्पत्ति एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे-

भिक्षेति शिष्यजन रक्षणदक्षिणेति

शाटीति शाश्वतमठोपधिकल्पनेति।

ग्रन्थोपसङ्ग्रहण मूल्यमिति ब्रुवाणाः

सन्यासिनोऽपि दधते सततं धनायाम्।। सं0सू0 5/27

यही नहीं, सन्यासियों के जो आवश्यक गुण हैं, उनका भी उनमें सर्वथा अभाव था। सन्यासी को ब्रह्म जिज्ञासु ही नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञ होना चाहिये। जिज्ञासु में साधनचतुष्टय, नित्यानित्यवस्तु-विवेक, शमदमादिषटकसम्पत्ति, इह-आमुत्र फलभोगविराग और मुमुक्षुत्व अवश्य होना चाहिए। किन्तु वेदान्तदेशिक के समय के इन कलियुगी सन्यासियों में उक्त गुणों का सर्वथा अभाव ही नहीं अपितु विपरीत गुणों का सङ्ग्रह देखा जाता था। नित्यानित्यवस्तुविवेक के स्थान पर इनमें तत्त्वातत्त्वविवेकाभाव था। शम-दम आदि की प्राप्ति के लिये प्रयत्न न करके राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण थे। इहामुत्रफलभोग से विराग कौन कहे, इन्होंने लौकिक वैदिक धर्मानुष्ठान से विमुखता को अपना कर्त्तव्य समझा था।

मुमुक्षुत्व के स्थान पर बुभुक्षा इनके जीवन का अङ्ग बन गयी थी। इनकी इस विपरीत दशा को देखकर महापुरुष लोग हँसते थे।

सन्यासियों से उनका ग्राम, कुल, गोत्रादि नहीं पूंछा जाता था, उनको सभी प्रणाम करने में संकोच का अनुभव करते थे। उनके नतृनन्तव्यभाव में सन्देह रहता था।

गृहस्थाश्रम में अतिथि सत्कार का विशेष महत्त्व था। आगे बढ़कर अतिथि का स्वागत किया जाता था। गृहस्वामी स्वयं खाद्यसामग्री लेकर उसके सामने उपस्थित होता था। मृदुवचन तथा जल (अर्घ्यपाद्यमधुपर्क) आदि द्वारा उसका सम्मान किया जाता था-

मयि चरति कदाचित्सत्य लोकोपकण्ठे

सपदि सनकमुख्यैः साकमभ्युज्जिहानः।

सविनय निभृताङ्गः सप्तशः क्षालितेन

स्वयमुदवहदर्घ्य पाणिना पद्मयोनिः।। सं0सू0 5/40

स्वागत के अनन्तर आगमन प्रयोजन पूंछा और बताया जाता था। गुरूजनों के आने पर लोग उठकर खड़े हो जाते थे। गुरूजनों के द्वारा उन्हें आशीर्वाद दिया जाता था। अल्पावस्था वाले लोग बड़ी अवस्था वालों को प्रणाम करते थे, किन्तु कभी-कभी गुणाधिक्य के कारण कनिष्ठों को भी ज्येष्ठ प्रणाम करते थे-

विधिवशनियतेन विष्णुभक्ते

प्रणिपतनेन वयः क्रमाधिकोऽपि।

उचितमुपचरामि विश्वमान्यां

हरिपद पद्ममरतिं परामहं त्वाम्।। सं0सू0 10/83

प्रणाम करने पर प्रतिप्रणाम किया जाता था- विष्णुभक्तिः- (स प्रश्रयम्) महाराज, अनादिसंसार-सागरनिमग्नमस्मत्कुलपतिं पुरूषमुद्धृतवते पूर्व जाय भवते प्रतिप्रणाममभिरोचयामि। सं0सू0 पृ0 883

सङ्कल्पसूर्योदय में वर्णित स्त्रियों की दशा-

सङ्कल्पसूर्योदय में स्त्रियों की दशा के विषय में भी वर्णन प्राप्त होता है। स्त्रियों की स्थिति सामान्यतः वैसी ही थी जैसी कि वर्तमान में है। वेदान्तदेशिक के काल में स्त्रियों को वेद पढ़ने पर कोई प्रतिबंध नहीं था, वे वेद का अध्ययन कर सकती थीं। वे सभाओं और उत्सवों में सम्मिलित होती थीं। नगर की स्त्रियां ग्रामीण स्त्रियों की अपेक्षा अत्यन्त चतुर थीं परन्तु स्त्रियां राजनीति में निपुण नहीं थीं। राजकुल के रहस्यों को उनसे विशेषरूप से गोप्य रखा जाता था किन्तु वे अपने पति को सौगन्ध दिलाकर रहस्यों को जान लेती थीं। नारियों के प्रति कवि के कुछ व्यक्तिगत विचार भी उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। कवि की दृष्टि में स्त्रियों का हृदय दारूण होता है। वे चञ्चल प्रतिकूल, तीक्ष्ण और रूक्ष स्वभाव की होती हैं। उन्हें हठात् वश में रखना सम्भव नहीं है। वेदान्तदेशिक के समय में भी गणिका से परिणय असम्भव समझा जाता था।

गतजलसेतुबन्धगजयूथपशौचकथा-

गगनतलानुलेप गणिकापरिणीतिनिभैः।

व्यथितमतिर्विवेक हतकस्य विचारशतैः

कुलपरिद्य नः कथमसौ भविता पुरुषः।। सं0सू0 8/17

किन्तु वेश्यायें राजाओं की सेवा में रहा करती थी। बाल गूंथने आदि के लिये दासियां भी रखी जाती थीं-

इदंप्रथमसंभवत्कुमतिजालकूलंकषा

मृषामतविषानलज्वलितजीवजीवातवः।

क्षरनन्त्यमृतक्षरं यतिपुरंदरस्योक्तय-

श्चिरंतनसरस्वती चिकुरबन्धसैरन्ध्रिका: सं0सू0 2/26

केशों की मांग निकालकर सिन्दूर लगाती थीं। गले में मोतियों की माला पहनती थी। पैरों में लाक्षारस लगाती थीं और मञ्जीर पहनती थीं। शबराङ्गनायें गुजाहार, केशों में मयूर पिच्छ एवं पल्लवों के वस्त्र पहनती थी जिसे देखकर नगरवासियों को हंसी आ जाती थी। इस कलियुग में भी आर्यावर्त में पतिव्रता स्त्रियां मिलती थी-

नवयौवनदर्मदान्धनारी

दुरितोपपल्वदूषितापि जातिः।

अनपायपतिव्रता प्रवाहैर-

धुनापि प्रलयं न याति सत्सु।। सं0सू0 6/25

समाज में विधवाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी। वे चोटी नहीं बांधती थीं, पत्र रचना नहीं करती थी, तिलक अङ्गराज नहीं लगाती थीं। कभी-कभी शुल्कादि से भी स्त्रियों को प्राप्त किया जाता था-

लम्बालकैर विरलक्षरद श्रुपरै-

म्र्लानिनैरपत्रतिलकैर्वदनार विन्दैः।

शंसन्ति शौर्य विभवं भुजशालिनस्ते

मोहावरोधसदृशो मुषिताङ्गरागाः।। सं0सू0 9/4

सङ्कल्पसूर्योदय का राजनीतिक महत्त्व :

सङ्कल्पसूर्योदय में जिस जनजीवन का वर्णन किया गया है उसके अनुसार लोगों का सामान्य जीवन सुखसमृद्धि से पूर्ण था। जलविहारार्थ वापिकार्ये थीं। उसमें वे जलक्रीड़ायें करते थे। दोलारोहण करते थे। स्त्रियों को पुरुष झुलाया करते थे। ग्रीष्म ऋतु में दीपक जलाये जाते थे। सुगन्ध के लिये अगुरू का प्रयोग किया जाता था। दम्पत्ति प्रहेलिकाओं का प्रयोग करते थे, जिससे उनका शिक्षित होना प्रतीत होता है।

पशुपक्षियों का पालन किया जाता था। मयूर और सारिका लोग घरों में रखते थे। भेड़े भी पाले जाते थे। भेड़ों को लड़ने का अभ्यास भी कराया जाता था।

उस समय कृषि भी सही ढंग से की जाती थी। धान के खेतों की निराई की जाती थी। अन्य फसलें भी बोई जाती थी। व्यापार उच्च कोटि का था। मणि-मुक्तादि रत्नों का व्यापार लोग नावों से करते थे। नावों द्वारा व्यापार किये जाने से यह प्रतीत होता है कि व्यापार स्वदेश में नहीं अपितु विदेशों में भी किया जाता था। मृगया खेलने का प्रचलन था। मृगणु (शिकारी) मार्ग के किनारे झाड़ियों में या गड्ढों में छिपकर बैठते थे। कभी-कभी अपने

को छिपाने तथा हिंस्र जीवों को आकृष्ट करने के लिये वह गाय मृगादि की खाल से आच्छादित होकर बैठता था।

राजसेवियों को सदैव दण्ड का भय रहता था-

तरतु विवित्सयाब्धिमधिरोहतु शैलतटीं

धमतु च धातुवर्गमभिगच्छतु शस्त्रमुखम्।

तदिदमरूंतुदं यदुत बह्ववधाय भिया

धनमदमेदुरक्षितिभृदङ्कणचङ्क्रमणम्।। सं0सू0 6/3

अवसरानुकूल काम करने वाले अधिकारी ही अपने पद पर प्रतिष्ठित रह सकते थे। इससे उस समय के शासकों या अधिकारियों की निरङ्कुशता के मान के साथ-साथ कर्मचारियों के चाटुकारिता करने वाले लोग पदोन्नति कर जाते थे और सीधे-सादे न्याय एवं परिश्रम से काम करने वाले व्यक्ति उचित स्थान पर नहीं पहुंच पाते थे। आपसी विरोध मिटाने के लिये सन्धि की बातें की जाती थीं। सन्ध्यर्थ वार्ता के लिये बुलाकर कभी-कभी लोग अभद्र व्यवहार भी करते थे। दूत सर्वथाअबध्य माने जाते थे।

सहृदय विद्वान् गुणों की ओर ही ध्यान देते थे। कहीं यदि प्रमादवश दोष भी दिखाई पड़ जाते थे तो बुरा नहीं मानते थे। खलों को दूसरों में दोष न होने पर भी दोष दीखते थे और गुणों की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती थी, किन्तु वे अपने विषय में इसके विपरीत समझते थे-

पश्यति परेषु दोषानसतोऽपि

जनःसतोऽपि नैव गुणान्।

विपरीतमिदं स्वस्मिन्

महिमा मोहाज्जनस्यैषः।। सं0सू0 1/63

कवियो में अन्य कवियों के भावों को चुराकर रचना करने की प्रवृत्ति देखी जाती थी। दूसरों को विश्वास दिलाने के लिये लोग शपथ लेते थे-

शपे दैष्टिक्येन स्वयमिह भवत्या च सुमते

त्वयैव द्रष्टव्यः स्वप्नविगमोन्मीलितधिया।

अहङ्कारग्राहग्रहकदनसाक्रन्दतनुभृ-

न्मुमुक्षसंरम्भो मुरमथनसङ्कल्पमहिमा।। सं0सू0 1/84

दूसरों को सौगन्ध देकर लोग उनके रहस्यों या गुप्त बातों को पूछ लिया करते थे। कुटुम्ब के आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। प्राप्त वस्तु को सविभक्त करके लोगों को दिया जाता था। अग्रजों के खा लेने के अनन्तर कनिष्ठ जन अवशिष्ट सामग्रियों का उपभोग करते थे। किसी का देहान्त हो जाने के अनन्तर उसके परिवार वाले विलख-विलख कर रोते थे।

श्री वेदान्तदेशिक का भौगोलिक ज्ञान बहुत ही सुन्दर था। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने समस्त उत्तर भारत और दक्षिण भारत की यात्रा करके भारतभूमि का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। इसलिये उनके काव्य में विभिन्न देशों की लौकिक स्थिति का स्पष्ट एवं यथार्थ चित्रण हुआ है। उन्होंने न केवल आसेतु हिमालय पर्यन्त प्रसृत वर्तमान भारत के अनेक भूखण्डों एवं नगरों का चित्रण किया है अपितु गूर्जर, पारसी, शक, यवन, बर्बर हूण आदि

जातियों पर विजय तथा सिन्धु, कम्बोज, कश्मीर, नेपाल एवं लङ्का आदि देशों का वर्णन करके उनकी भारत से अखण्डता सूचित की है।

वेदान्तदेशिक ने कश्मीर की स्त्रियों को पुरुषधर्मा तथा कश्मीर को स्त्रीदेश कहा है। कश्मीर के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर कवि उसके वर्णन का मोह संवरण न कर सका। वहाँ की अन्य वस्तुओं की तो उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु केशर की चर्चा किये बिना वहां का वर्णन अधूरा ही रहता। वहां अविच्छिन्न प्रवाह वाली बालुका नदी बहती थी। धूप रहित रमणीय वनों से पृथ्वी सुशोभित रहती थी। हिमालय में चमर, सिंह और कस्तूरी मृगादि रहते थे। वहाँ के निवासियों के परिधान विशेष प्रकार के होते थे। शबराङ्गनायें गुञ्जों का हार, मयूर पिच्छ का मुकुट एवं पल्लवों के वस्त्र पहनती थीं। बदरिकाश्रम का वर्णन किये बिना हिमालय से नीचे उतर आना कवि के लिये संभव नहीं था। बदरिकाश्रम को देखकर कवि मुग्ध हो जाता है। इसका मुख्य कारण कवि की दृष्टि में यह था कि इस कलियुग में भी वहां पर धर्म पूर्णरूपेण रक्षित था।

सङ्कल्पसूर्योदय का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व :

श्री वेदान्तदेशिक ने सङ्कल्पसूर्योदय में आर्यावर्त को बड़ा गौरवपूर्ण स्थान दिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस कलिकाल में नवयौवन से दुर्मदान्ध नारियों के कारण अन्यत्र वर्णो के दूषित हो जाने पर भी आयावर्त में पतिव्रता स्त्रियां थी-

नवयौवन दुर्मदान्धनारी

दुरितोपपल्वदूषितापि जातिः।

अनपाय पतिव्रताप्रवाहैः

अधुनापि प्रलयं न याति सत्सु।। सं०सू० 6/25

यह पुण्यक्षेत्र आर्यजनों से सुशोभित रहता था। इस क्षेत्र में अनेक तीर्थ और तपोवन थे परन्तु यहां भी समय ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया था। धर्म की ओर लोगों की प्रवृत्ति नहीं रह गयी थी। कलिकाल के प्रभाव से वैदिक मार्ग का अनुसरण करने वाले बहुत कम लोग रह गये थे। विदेशियों के गमनागमन तथा संस्कृति संश्लेषण से यहां का धर्म भी विकृत हो गया था। प्राच्य, औदीच्य और पाश्चात्य पाखण्डियों से यह प्रदेश भी व्याप्त हो गया था। आर्यावर्त का वर्णन करते हुये कवि अयोध्या की ओर अपनी दृष्टि डालता है। अयोध्या अति प्राचीनकाल से धर्म और राजनीति का केन्द्र रही है। अयोध्या सरयू के पावन तट पर स्थित होकर उत्ताल तरङ्गों के कल-कल से प्राचीन अयोध्या के वैभव का आज भी मान करती है। यहीं पर अवतार लेकर मर्यादापुरूषोत्तम राम ने धर्म स्थापन किया था। रघुवंशी राजाओं ने अनेक महायज्ञ किये थे-

अयोध्या दिव्येयं वहति सरयूयत्र विरजा

विभोरते यूपा विधिनियम निर्मुक्त पशवः।

अकुण्ठस्वातन्त्रयः स्वपदधर्माधिरोहन्नवसरे

सहानैषीदत्र स्थिर चरमशेषं रघुपतिः।। सं०सू० 6/26

किन्तु यहां भी इस समय पाखण्डियों के प्रभाव से सतयुग का उत्तम धर्म समाप्त हो गया था, मुक्ति मार्ग सेवन करने वाले शान्त चित्त महापुरूषों ने इसका परित्याग कर दिया था। मथुरा की भी ऐसी ही दशा थी। कालक्रम से गुणों का व्यतिक्रम तो हो ही जाता है। मथुरा नगरी में भी अधर्म का वातावरण छा गया था-

इमामधर्मेण विभाव्य संप्लुता

मुदन्वता द्वारवतीमिवाधुना।

न भावये संयमसंपदास्पदं

न कालतः कस्य गुणव्यतिक्रमः।। सं0सू0 6/33

वेदान्तदेशिक ने सङ्कल्पसूर्योदय की जिस समय रचना की उस समय भी लोग प्राचीनकाल की तरह शुभ-अशुभ, शकुन-अपशकुन आदि में विश्वास करते थे। स्त्रियों के वामाङ्ग का फड़कना शुभ समझा जाता था। पुरुषों का वामाङ्ग फड़कना किसी अशुभ का सूचक माना जाता था। स्त्रियों के दक्षिण नेत्रादि का स्फुरण अनिष्ट की सूचना देता था। नभोमण्डल में गिद्धों का मंडराना, ध्वजा का खण्डित हो जाना, वात्यामण्डलों (बवंडर) का दिखाई देना आदि को लोग अशुभ मानते थे-

गृध्रास्तोरणशैल शृङ्गमभिताऽगृह्णन्नभोमण्डलं

वात्यामण्डलखण्डित ध्वजपटी शून्यानि सैन्यानि नः।

शूलप्रासकृपाणमुद्गरधनुः क्रुरैर्मुहुः किंकरै-

र्दृश्यन्ते परिवारिता इव दिशः संवर्तसंवर्तकैः।। सं0सू0 8/4

मन्त्र-तन्त्रादि में लोग विश्वास करते थे। ग्रहादि दोषों के निवारणार्थ मन्त्रादि बांचे जाते थे। बच्चों को सिंह का नख पहनाने से नजर, टोना, ग्रहादि प्रकोप का भय नहीं होगा, ऐसी लोगों की धारणा थी। भूत-प्रेतादि में विश्वास किया जाता था। कभी-कभी पिशाचादि से लोग अभिभूत हो जाते थे-

मधुभरितहेम कुम्भीमधुरि-

मधुर्यौ पयोधरौ सुदृशाम्।

पिशितमति भावयन्तः पिशाच

कल्पाः प्रलोभयन्ति जडान्।। सं0सू0 3/8

भाग्यवाद में विश्वास किया जाता था। अपनी छाया के समान नियति (भाग्य) का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता था। सुख-दुःख नियतिवशात् ही प्राप्त हुआ करते थे। अपने पौरूष से कोई दैव का अतिक्रमण नहीं कर सकता था-

परिचरतितवासौ पार्श्ववर्ती वसन्तः

किमपि मधुकरीभिर्गीयते नाम जैत्रम्।

तदपि मदनदैन्यं प्रापितस्त्वं नियत्या

क इव कथय दैवं पौरूषेणों परून्ध्यात्।। सं0सू0 8/65

वेदान्तदेशिक ने कहा कि इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि साधारण पौरूष वाले व्यक्तियों द्वारा भी नियति का अतिक्रमण संभव नहीं है। नियति का दारूण परिणाम अपरिहार्य हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि वेदान्तदेशिक के मत से भाग्यवाद दृढ़ सत्य है। भाग्य में परिवर्तन करना स्वपौरूषाधीन नहीं

है। पूर्वजन्म में किये गये पापों के फलस्वरूप विपत्तियों (दुःख) को सहन करना ही पड़ता है। भाग्य से ही अवद्य गुणों का नाश और ईश्वर में प्रीति होती है-

प्रतिक्षिप्तावद्य प्रवरगुण निर्धारण भुवा

परिप्रेम्णा जुष्टो भवभृदधुना भाग्यवशतः।

अभिन्ना स्वादानाममृत लहरीणामिव धियां

विकल्पं विज्ञाता विधिपवन वैषम्य जनितम्।। सं0सू0 3/18

इसके अतिरिक्त समाज में अन्य धार्मिक मान्यतायें भी प्रचलित थीं। श्राद्धादि में विश्वास किया जाता था। पिण्डदान भी किया जाता था। नवान्नप्राशन के पूर्व लोग देवबलि प्रदान करते थे। देवोत्सव यात्रायें की जाती थीं। लोग नगरों और वीथियों की परिक्रमा करते थे। लोग एकादशी को उपवास करते थे। रजस्वला के समीप जाना अनुचित समझा जाता था। उसके साथ सम्भोग अत्यन्त गर्हित माना जाता था। प्रमादवश ऐसा हो जाने पर लोग लज्जित होकर स्नानादि करने के अनन्तर पवित्र होते थे।

विवाह प्रायः आर्ष विधि के अनुसार होता था। दहेज प्रथा का बहुत प्रचलन था। वर्तमान काल की तरह यह उस समय भी समाज का अभिशाप थी। वर पक्ष वाले कन्यापक्ष वालों से दहेज लेना अपना अधिकार समझते थे। दहेज बलात् छीन लिया जाता था। इसी कारण कन्या कुल वाले वर पक्ष वालों के अधीन हो जाते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि परिवार में कन्या को हेय दृष्टि से देखा जाता था। यह भावना आज भी समाज में बनी हुई

है। विवाह के समय उत्सव मनाये जाते थे जिनमें संगीत (वाद्य, नृत्य, गीत) का आयोजन किया जाता था। गायक नर्तक आदि को धन तथा पारितोषिक दिया जाता था। विवाह के समय वधू को आभूषणों से अलङ्कृत किया जाता था। वधू माङ्गलिक माला और अक्षत आदि का प्रयोग करती थी। उसके हाथों में रक्षा सूत्र बांधा जाता था। विवाह के अवसर पर लाजा होम का प्रचलन था। लाजा की वर्षा भी की जाती थी। मन्त्रोच्चारण के साथ सप्तपदी की जाती थी। वर अपने हाथों से वधू के पैरों को पकड़कर अश्मारोहण कराता था। वर-वधू अरून्धती का दर्शन करते थे। पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते थे। सम्बन्धी तथा गांववासी नवदम्पत्ति को उपहार प्रदान करते थे।

प्रसन्नता के अवसरों पर उत्सव मनाने की प्रथा थी। पुत्र जन्मादि के अवसरों पर धूम-धाम से उत्सव मनाये जाते थे। दान दिया जाता था। ग्रामवासी ऐसे अवसरों पर पूर्ण सहयोग प्रदान करते थे। विवाह और विजय के अवसर पर उत्सव मनाये जाते थे। विजयी का स्वागत किया था-

अमुष्यदृढ़विक्रम द्रुतनिपीतमोहाम्बुधे-
र्विवेक नृपतेरसौ विनयसंनते मूर्धनि।
परप्रणिधिपवित्रमस्थिरसुखापवादोद्गति
प्रतिप्रसवसौरभा पतति पुष्पवृष्टिर्दिवः।। सं0सू0 8/107

विजय करके वापस आने पर राजा सार्वजनिक रूप में महोत्सव मनाते थे। इन अवसरों पर सङ्गीत का प्रचुर प्रयोग होता था। स्त्रियां मधुर गीतों का गान करती थीं।

उपायः स्वप्राप्ते रूपनिषदधीतः स भगवान्

प्रसत्यै तस्योक्ते प्रपदननिदिध्यासनगती।

तदारोहः पुंसः सुकृतपरिपाकेन महता

निदानं तत्रापि स्वयमखिल निर्माण निपुणः।। सं0सू0 10/31

गीत के साथ मृदङ्ग, वीणा, दुन्दुभी आदि वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता था। महोत्सवों पर बन्दियों, सेवकों तथा बन्धुओं में यथोचित वस्तुयें वितरित की जाती थी। नगर और भवन सजाये जाते थे। राजमार्ग पर पत्थरों के चूर फैलाये जाते थे। जल का छिड़काव करने के लिये बांस की पिचकारी प्रयोग में लायी जाती थी।

युवकों द्वारा आसव सेवन किया जाता था। मद्यपीकर लोग झूम जाते थे। अङ्गूर की मदिरा प्रयोग में लायी जाती थी।

पुरूषमजहदभोग श्रद्धापुरस्कृतसंभ्रमं

विषय मदिरास्वादक्षीवं विमोचयितुं स्थितः।

अमृतमिलितद्राक्षावल्लीफलद्रवसम्पदा-

ममरतरूणीबिप्वोकानामवैति न वैभवम्।। सं0सू0 4/22

द्यूत या जुआ खेलने का विशेष प्रचलन था। द्यूत में अपना सर्वस्व दांव पर लगा देने में भी लोग हिचकते नहीं थे-

वादद्यूतपणं प्रकल्प किमपि क्षिप्ताभिमानः क्वथन्

कश्चिद् वैदिक पद्धतिं द्विजपतिः क्षिप्रं मयात्याजितः।

अर्हद्बुद्धवृहस्पतिप्रभृतिभिः क्लृप्तान्कृतान्तक्रमा-

न्न्योन्यव्यतिहारितानपि पठन् व्यामोहयत्यर्भकान्।। सं0सू0 5/13

इस प्रकार हम देखते है कि तत्कालिक समाज का एक स्पष्ट चित्र वेदान्तदेशिक की दृष्टि में था जो कि स्थान-स्थान पर उनकी कृति में चित्रित हुआ है। इस लोक चित्रण के अतिरिक्त उन्होंने अनेक पर्वतों, नगरों, जातियों, नदियों आदि का भी वर्णन किया है।

सप्तम - अध्याय

उपसंहार

सप्तम अध्याय
उपसंहार

प्रतीक नाटकों की सुदीर्घ परम्परा के विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक नाटकों का अपना विशिष्ट स्थान है। यद्यपि प्रतीक शैली की नाट्यकृति सर्वप्रथम प्रणीत करने का श्रेय महाकवि अश्वघोष को जाता है, लेकिन उनकी नाट्य-रचना अत्यन्त ही छिन्न-भिन्न अवस्था में प्राप्त हुई और कुछ दिनों तक प्रतीक नाटकों के प्रणयन की प्रक्रिया बाधित हो गयी।

इस प्रक्रिया को पुनः प्रारम्भ करने का श्रेयस्कर कार्य श्रीकृष्ण मिश्र जी ने किया। आपने 11वीं शताब्दी में 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रचना की। इस प्रतीक नाटक की रचना उन्होंने अमूर्त भावों के विशुद्ध मानवीकरण के माध्यम से की और इसका श्रेय उन्हें निश्चित रूप से जाता है। एक सहस्रवर्षो के पश्चात् श्रीकृष्ण मिश्र ने इस प्रतीक नाटक की रचना की। इतने दीर्घ अन्तराल के पश्चात् हुई इस रचना के बाद स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि प्रतीक शैली के नाटकों का प्रणयन बीच में अवरूद्ध क्यों हो गया?

इस विषय में कई मत प्रचलित हैं। कुछ विद्धानों का मानना है कि चूँकि अश्वघोष बौद्ध दार्शनिक थे और इन एक सहस्र वर्षो में बौद्धों का विरोध चरम सीमा पर था, यद्यपि उनकी कृति और शैली बौद्ध दर्शन से प्रभावित थी, इसलिये यह प्रतीक शैली भी आस्तिक विचारधारा वाले विद्धानों के कोप का भाजन बन गई। कालान्तर में यह शैली अपने अद्वैत विचारों को भी जनमानस तक सहज एवं सरल ढंग से पहुँचा सकती है, इसका अन्वेषण

श्रीकृष्ण मिश्र ने किया। उन्होंने दर्शन से जनसामान्य को होने वाले लाभ को दृष्टिगत रखकर, इस प्रतीक शैली से युक्त दार्शनिक नाटक की रचना की।

जब दर्शक अमूर्त भावों को अपने सामने मानव रूप में वार्तालाप करते हुये देखते हैं, तो सहज ही वे उन भावों को आत्मसात् कर लेते हैं और इस प्रकार नाटक का कथ्य अर्थात् दार्शनिक सिद्धान्त उन्हें स्वतः समझ में आने लगते हैं जिससे नाटककार का ध्येय पूरा हो जाता है।

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय के प्रतीक नाटकों में प्रतीक शैली के विकास का मुख्य स्रोत सर्वप्रथम वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है। बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी इस प्रतीक शैली को कुछ विकसित रूप में ग्रहण किया गया है। इसके बाद रामायण और महाभारत में प्रतीक नाट्य-शैली का प्रयोग पर्याप्त विकसित रूप में हुआ है।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एवं भास के 'बालचरितम्' में कुछ प्रतीक पात्रों का संघटन हुआ है, किन्तु इन नाटकों में पूर्ण प्रतीकात्मकता नहीं है। इस प्रकार स्वतः सिद्ध है कि प्रतीक नाट्य शैली का पूर्ण विकास ग्यारहवीं सदी के मध्य में श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा प्रणीत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में ही होता है।

इसके बाद कई प्रतीक नाटक लिखे गये और प्रतीक नाटकों के प्रणयन की होड़ सी लग गयी। नाटककारों का एक पूरा वर्ग ही इस क्षेत्र में रम गया जिसके फलस्वरूप सङ्कल्पसूर्योदय, अमृतोदय, चैतन्यचन्द्रोदय आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ इस काल में रची गयी। ये सभी प्रतीक नाटक अधिकांशतः दार्शनिक हैं। इनमें चरित्रों के माध्यम से किसी न किसी दार्शनिक समस्या को

तथा किसी दार्शनिक मतवाद की स्थापना का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। सङ्कल्पसूर्योदय की रचना के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा जाता है कि इसकी रचना प्रबोधचन्द्रोदय की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई है।

दार्शनिक तत्व स्वभावतः कठिन होते हैं, उन्हें सरल बनाकर सुधीजनों के समक्ष लाना ही कवि की सफलता मानी जाती है। इस दृष्टि से देखने पर श्री कृष्ण मिश्र एवं वेदान्तदेशिक, दोनों ही, अतिसफल हुए हैं। श्रीकृष्ण मिश्र ने जहाँ अद्वैतवाद की स्थापना करायी है, वही वेदान्तदेशिक ने विशिष्टाद्वैतवाद की।

कला की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय एवं सङ्कल्पसूर्योदय साधारण नाटकों की तरह ही समृद्ध हैं। इनमें नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। अमूर्तभावों का पात्रों के रूप में सजीव चित्रण किया गया है। रसादि की उपस्थिति की दृष्टि से भी ये नाटक अन्य साधारण नाटकों से कमतर नही हैं।

दार्शनिक तत्व स्वभावतः कठिन होते हैं, उन्हें सरलतम रूप में प्रस्तुत करना ही कवि की कसौटी है। इस दृष्टि से देखने पर श्रीकृष्ण मिश्र अति सफल हुये हैं। ईश्वर और माया का सम्बन्ध कैसा है? ईश्वर सृष्टि करते हैं या स्वतंत्र माया सृष्टि करती है? इस प्रश्न के उत्तर को निम्नलिखित श्लोक में बड़ी सरलता से समझा जा सकता है -

'अयः स्वभावादचलं बलाच्चलत्यचेतनं चुम्बक सन्निधाविव।
तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः।।

प्रबोधचन्द्रोदय

आशय यह है कि जिस तरह चुम्बक के सम्पर्क में आने से लोहा स्वभावतः अचल लौह जैसे चल हो जाता है उसी तरह माया भी ईश्वरेक्षित

होकर जगत् की सृष्टि करती है, यही मायेक्षण ही ईश्वर की ईश्वरता है। यहाँ गूढ़ तत्व को सरल ढंग से हृदयङ्गम कराया गया है।

'सङ्कल्पसूर्योदय' नाटक के अन्त में वेदान्तदेशिक के ये वचन कि कोई इसकी प्रशंसा करे या निन्दा करे अथवा सामान्य भाव से ग्रहण करे, भगवद्ध्यान में लीन हमारा क्या बिगड़ता है? जिनके हम हैं, जो हमारे हैं उन वेदान्त पथ में परिनिष्ठ शिष्यों में आनन्द प्रवाहित करने में यह सर्वथा समर्थ ही है, दूसरे प्रच्छन्न मतानुयायियों से क्या लेना-देना-

स्तोतुं निन्दितुमस्मदुक्तमथवा सोढुं समूढं जगत्
किं नश्छिन्नमनन्तचिन्तनरसे सुस्थेसुखं तस्थुषाम्।
शिष्याः शिक्षितबुद्धयः श्रुतिपथेयेषां वयं ये च न -
स्तत्संतोष समर्पणक्षममिदं साडम्बरैः किं परैः।।

- सङ्कल्पसूर्योदयम्

अपने प्रयोजन में श्री वेदान्तदेशिक सर्वथा सफल भी हुये हैं। प्रपत्ति या भगवद्भक्ति के साथ-साथ रामानुज दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त का नाट्यमुखेन प्रतिपादन कवि की एक महती उपलब्धि है।

गंभीर भावपूर्ण दार्शनिक विचारधारा को आधार बनाकर एक मनोरञ्जक नाटक प्रस्तुत करना एक दुरूह कार्य है किन्तु यह अत्यन्त सत्य है कि इस प्रकार की कठिनाइयों के बावजूद श्रीकृष्ण मिश्र एवं श्री वेदान्तदेशिक मानव आत्मा के शाश्वत संघर्ष के कलात्मक नाटकीय चित्र उपस्थित करने के साथ ही अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना में भी पूर्णतः सफल हुये हैं।

****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थावली

संस्कृत हिन्दी कोश	–	वामन शिवराम, आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, 1966 पृ0 1056
हलायुधकोश	–	(अभिधानरत्नमाला) संपादक-जयशंकर जोशी, सरस्वती भवन, वाराणसी प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृ0 456
ईशादि नौ उपनिषद्	–	व्याख्याकार-हरिकृष्णदास, गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2020
उत्तररामचरितम्	–	भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, सं0 2019
उपनिषदार्य्यभाष्य-द्वितीयभाग	–	(छान्दोग्य और वृहदारण्यक साथ-साथ)
ऋग्वेद संहिता	–	सायण भाष्य, (9-10वां मण्डल), चतुर्थ भाग, सं0 1838
काव्यप्रकाश	–	मम्मटाचार्य, झलकीकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, सप्तम संस्करण, पूना, 1965
काव्यतत्वसमीक्षा	–	नरेन्द्रनाथ शर्मा चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, 1956
कालिदास	–	एस0 ए0 सावनिस, बाम्बे 1966

गोप ब्राह्मणोत्तरभाग	–	कलकत्ता, 1872
छान्दोग्योपनिषद्	–	(सानुवाद शंकरभाष्य), गीता प्रेस, गोरखपुर च0सं0 सम्बत् 2019
तैत्तिरीयब्राह्मण प्रथम भाग	–	ग्रन्थाङ्क 37, 1939
दशारूपकम्	–	धनंजय कृत, व्याख्याकार–डा0 भोलानाथ शङ्करव्यास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1962
नाट्यशास्त्र	–	गायकवाड् ओरियण्टल सीरीज, भाग 1–3 1959
नाट्यशास्त्र	–	काव्य माला–42 बाम्बे 1943
निरूक्त	–	यास्काचार्य, बाम्बे संस्कृत सीरीज।
बालचरितम्	–	भास, व्याख्याकार–रामजी मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, प्रथम संस्करण, 1961
महाकवि अश्वघोष	–	डा0 हरिदत्त शास्त्री, शान्तिनिकेतन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1963
महाभारत (मूलमात्र)	–	महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन, आदिपर्व, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना 1933
यजुर्वेदसंहिता	–	अजमेर, 1974 वि0
रसगङ्गाधर	–	पण्डितराज जगन्नाथ, मधुसूदन शास्त्री, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, प्रथम भाग, सं0

2020

शतपथब्राह्मण – वर्लिन 1855

शांख्यायन ब्राह्मण – आनन्दाश्रमसंस्कृत सीरीज, पूना 1911 वि0

शिशुपालवधम् – श्री माघ, टीकाकार – हरिगोविन्द शर्मा चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी द्वितीय संस्करण, सं0 2018

श्रीमद्भागवत्महापुराण (मूलमात्र) – गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं0 2020

अमृतोदयम् नाटकम् – गोकुलनाथोपाध्याय, निर्णयसागर प्रेस, कौलभटलेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण, 1935 ई0

अमृतोदयम् नाटकम् – गोकुलनाथोपाध्याय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, व्याख्याकार – आचार्य रामचन्द्र मिश्र, 1965

चैतन्यचद्रोदयम् – कविकर्णपूर, निर्णयसागर प्रेस 23, कौलभटलेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण, 1917

जीवनमुक्तिकल्याणम् – श्री नल्लाध्वरी, श्री रङ्गाभ, श्रीवेणी विलासप्रेस, गोपालमन्दिर लेन, बनारस सिटी, 1930

जीवसंजीविनी नाटकम्	–	श्री वेकटरमणाचार्य, बंगलौर वि0वि0 सुब्बय्य एण्ड सन्स मुद्राक्षीशाला, मुन्द्रि 1955
जीवानन्दनम् नाटकम्	–	श्री आनन्दरायमखी, अड्यार, मद्रास 1947 ई0
धर्मविजयनाटकम्	–	भूदेव शुक्ल, विद्याविलास प्रेस, गोपाल मन्दिर लेन बनारस सिटी, 1930
प्रबोधचन्द्रोदय नाटकम्	–	श्रीकृष्ण मिश्र, हिन्दी व्याख्याकार–श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा विद्या भवन, बनारस–1, 1955
पुरंजनचरितम्	–	श्रीकृष्णदत्त मैथिल, चैटरबुक स्टाल, प्रथम संस्करण, 1955
मोहराजपराजयम्	–	यशपाल, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा 1918 ई0
यतिराजविजयनाटकम्	–	श्रीवरदाचार्य, तिरूमाला तिरूपति देवस्थानम्–तिरूपति, 1956
विद्यापरिणयम्	–	श्री आनन्दरायमखी, निर्णयसागर प्रेस, दि0सं0 बाम्बे 1930
संकल्पसूर्योदयम्	–	श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिक, अड्यार, मद्रास 1948

अमरकोश – श्री अमरसिंह, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे, 1952 ई0

ग्रीब्स जर्मन डिक्शनरी – (जर्मन एण्ड इंग्लिश), पु0न0 443514 इलाहाबाद यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी।

मेदिनी कोश – –

वाचस्पत्यम् (वृहत् संस्कताभिधानम्) – चौखम्भा संस्कृत सीरीज, ग्रन्थ सं0 94, पंचम तथा षष्ठ भाग, 1962

वेब्सटर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी – पृ0 68

वेदिकापदानुक्रम कोश – (उपनिषद्), खण्ड 3, लाहौर, 1945 (प–ह)

वर्ड कानकार्डेस – विश्वबन्धु शास्त्री, लाहौर, वाल्यूम 2, 1956 ई0 पृ0 674

शब्दकल्पद्रुम – स्याराजाराधाकान्त देव, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, तृतीय भाग पृ0 268

शब्दरत्नसमन्वयकोश – पृ0 20, 59

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी – मौनियर विलियम्स, न्यू एडीशन, पृ0 886

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी – वामन, शिवराम आप्टे, जवाहर नगर, डेलही, 6, 1965

संस्कृत आलोचना – पं0 बलदेव उपाध्याय, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण 1957

संस्कृत नाटक – ए0वी0कीथ, भाषान्तरकार उदयभानु सिंह मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम रूपान्तर, 1965

संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1

संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास – कृष्ण चैतन्य अनुवादक-विनय कुमार राय चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

थियरी एण्ड प्रैक्टिस आफ हास्य रस इन संस्कृत ड्रामा – डा0 लालरमाथदुपाल सिंह, पृ0 403

द ऋग्वैदिक डाइलाग्स ए स्टडी – कु0 उषाकरम वेलकर, पृ0 21, 23, 27 29, 30

नैषध परिशीलन – डा0 चन्द्रिकाप्रसाद शुक्ल पु0 न0 810/10 स

प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी – डा0 सरोज अग्रवाल, हिन्दी साहित्य

भारतीय प्रतीक विद्या – डा0 जनार्दन मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना,3, वि0 2015

भारतीय दर्शन – श्री बलदेव उपाध्याय, शाखा मन्दिर वाराणसी, षष्ठ संस्करण, 1960

भारतीय दर्शन – श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, एवं श्री

धीरेन्द्र मोहन दत्त, श्री हिमाचल प्रेस, पटना 4, 1964

रङ्गमंच – शेल्डान चीनी, अनुवादक श्रीकृष्ण दास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

हमारी नाट्यपरम्परा – श्रीकृष्णदास, साहित्यकार संसद, प्रथम संस्करण, 1956

हिन्दी साहित्य कोश – सं0 धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लि0, वाराणसी प्रथम संस्करण सं0 2015

संस्कृत नाटककार – कान्तिकिशोर भरतिया, प्रथम संस्करण, 1959

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण – द्वितीय संस्करण, मद्रास 1918

साहित्य दर्पण – विश्वनाथ कविराज, मोतीलाल बनारसी दास, द्वितीय संस्करण, 1956

सामवेदसंहिता – चतुर्थसंस्करण, सं0 2008

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य – प्रो0 श्रीधर भास्कर, माडर्न बुक स्टोर, अकोला एवं नागपुर, सन् 1963

चन्देल और उनका राजत्वकाल – श्री केशवचन्द्र मिश्र

प्रतीकशास्त्र – श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, हिन्दी समिति सूचना, उत्तर प्रदेश, लखनऊ ग्रन्थमाला

97, प्रथम संस्करण, 1964

प्राकृत साहित्य का इतिहास - डा0 जगदीशचन्द्र जैन, चैखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सं0 2018 पृ0 614

प्राचीन भारत का इतिहास - डा0 विमलचन्द्र पाण्डेय (250 ई0 से 750 ई0) प्रभात प्रेस, मेरठ 1965

प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास - (पूर्व ऐतिहासिक काल से 320 ई0 तक) विमल चन्द्र पाण्डेय, हिन्दुस्तानी एकेडमी

इण्डियन फिलासफी - डा0 एस0 राधाकृष्णन्

इण्डियन फिलासफी - चन्द्रधर शर्मा, बनारस हिन्दू यूनिव0, 1952

ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर - (एम0 कैजामिया)

ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर - (फ्राम चासर टु माडर्न टाइम), अमरनाथ जौहरी, सरस्वतीसदन, मंसूरी, प्रथम संस्करण, जनवरी 1961

ऐनशेण्ट इण्डिया - आर0सी0मजूमदार, मोतीलाल बनारसीदास 1952 ईसवीं

ड्रामाज - एच0एच0विल्सन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1962

दी हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी - डा0 दास गुप्ता

दी हिस्ट्री आफ कल्चर आफ द इण्डियन पिपुल - आर0सी0 मजूमदार, भारतीय विद्याभवन बाम्बे पृ0 312, 384, 444, 443

दी नम्बर आफ रसाज - डा0 वी0 राघवन् मद्रास, 1940

पॉलिटिकल हिस्ट्री आफ इण्डिया - हेमचन्द्रराय चौधरी, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, दिसम्बर 1953 पृ0 83

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर - एम0 वीन्टरनीट्ज, मोतीलाल बनारसीदास वाल्यूम 3, भाग 1

हिस्ट्री आफ ऐनशेण्ट इण्डिया - रमाशंकर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसी दास, पृ0 225, 229, 231

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर - ए0 वी0 कीथ

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर - मैकडानल, लन्दन, द्वितीय संस्करण, नवम्बर 1905 ई0

अमृतोदयम् नाटकम् - गोकुलनाथोपाध्याय, निर्णयसागर प्रेस, कौलभटलेन, बाम्बे द्वितीय संस्करण, 1935 ई0

परम्परा - सम्मेलन, प्रथम संस्करण 1962

भोजराज श्रृंगारप्रकाश - डा0 वी0 राघवन् अड्यार, मद्रास, 20, 1963

हिन्दी काव्य में अन्योक्ति - डा0 संसारचन्द्र राजकमल प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण, 1960

हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन (संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों के परिपार्श्व में) - डा0 शन्तिगोपाल पुरोहित, साहित्य सदन देहरादून, प्रथम संस्करण, 1964, पृ0 143

हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास - डा0 दशरथ ओझा, द्वितीय संस्करण, सं0 2013

हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास - डा0 वीरेन्द्र सिंह, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1964

संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति के उद्भव एवं विकास का एक आलोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबन्ध) - डा0 राजेन्द्र प्रसाद मिश्र

श्रीकृष्ण मिश्र प्रणीत 'प्रबोधचन्द्रोदयम्' एक समीक्षात्मक अध्ययन - विनीता रानी

पत्र-पत्रिकाएँ एवं सूची पत्र

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज - (द वृषाकपि हिम्), वा0 प्रथम, सीनेट हाउस, इलाहाबाद, 1925, पृ0 97-156

इण्डियन हिसटारिकल क्वाटरली - वाल्यूम द्वितीय, पृ0 413-15

इण्डियन एण्टीक्वेरी, वाल्यूम 420 पृ0 382

इण्डोलाजिकल स्टडी, पार्ट 3, 1959

एनुअल रिपोट आफ द आर्कयोलाजिकल सर्वे।

ए डेस्क्रिप्टिव केटलाग आफ संस्कृत मैन्स्क्रिप्ट्स, वाल्यूम 9, 1906

एनसाइक्लोपीडिया आफ रीलीजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम 1,2,4,7

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, वाल्यूम 1, पृ0 645

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, वाल्यूम 21, पृ0 700

कल्याण भागवतांक, प्रथम खण्ड, एडीटेड एच0 पी0 पोद्दार एण्ड सी0 एल0 गोस्वामी, गीता, गोरखपुर, पृ0 386-394

केटलाग्स आफ संस्कृत मैन्सक्रिप्ट्स इन मैसूर एण्ड कूर्ग, मैसूर गवर्नमेन्ट प्रेस, 1884

केटलागस् आफ एम0 एस0 एस0 इन द सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, वाल्यूम 1, पृ0 468

केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनसक्रिप्ट्स इन द सेण्ट्रल प्रावीन्सेज एण्ड बैरार राज बहादुर हीरा लाल पृ0 287

जनरल आफ ओरियण्टल, मद्रास

जनरल आफ द आसाम रिसर्व सोसाइटी

डेसक्रिप्टिव केटलाग आफ द संस्कृत मैन्स्क्रिप्ट्स वाल्यूम, 3 1930 वाणीविलास प्रेस, श्री रङ्गम्।

थियोडार आफ्रेख्त केटलाग्स केटलागारम-वाल्यूम 1,2 पृ0 29, 407, 352, 207

द एनसाइक्लोपीडिया अमेरिका, वाल्यूम 1, पृ0 411

बौद्ध साहित्य में कवि अश्वघोष का अवदान - लक्ष्मणसेन गुप्ता, नालन्दा त्रैमासिक पत्रिका, कलकत्ता, 1966

बर्नेल्स केटलाग नं0 10698

संस्कृत एण्ड तमिल मैनसृक्रिप्ट्स फार द हायर 1896-97, न0 1 गवर्नमेन्ट प्रेस। 1998